विशोधनिका

(‘दे धनाधन’ भाग ४)

गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशक : गोस्वामी श्याममनोहर,
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रस्ता, जुहुस्कीम,
मुंबई. ४०००५६.

प्रकाशनार्थ आर्थिकसहयोग : श्री मनीष बाराई

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०६४=ई.स.२००८.

प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : रमा आर्ट्स्,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

(क)जघन्याधिकारिताका पुष्टिमार्गीय विवेचन

और

(ख)पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ले-मुंबइ : १०-१३जन.९२)

एक सिंहावलोकन

(क)

विचार्यविषयके प्रथम अंग विषयवाक्य :

द्वया ह वै प्राजापत्याः देवाः च असुराः च ततः कनीयसाएव देवाः ज्यायसाः असुराः च (बृह.उप.१।३।१).

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः दानं दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवम् अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनं दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीः अचापलं तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता भवन्ति सम्पदं दैवीम् अभिजातस्य, भारत!, दम्भो दर्पो अभिमानः च क्रोधः पारुष्यमेव च अज्ञानं च अभिजातस्य, पार्थ!, सम्पदम् आसुरी. दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरएव च... प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुः आसुराः न शौचं नापिच आचारो न सत्यं तेषु विद्यते... (भग.गीता.१६।१-७).

[१]ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि. [२]सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च, ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः (भग.गीता.[१]७।१२ [२]१४।१७-१८).

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथग् जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः...

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम्, इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः. मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा... स्वरूपेण अवतारेण लिंगेन च गुणेन च तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि. तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदाद् मिश्राः त्रिधा पुनः, प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्. जीवाः ते हि आसुरा सर्वे 'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः हि अज्ञाः तानु ये पुनः. प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थः तैः न युज्यते. सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः (पु.प्र.म.१-२५).

विषयवाक्यविवेचन :

इन श्रुत्यादि प्रमाणवचनोंके तथा तन्मूलक आचार्यवचनोंके भी अवलोकन करनेसे इतना तो सुनिश्चित है ही कि इस भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके चिदंशभूत जीवोंके सर्ग, स्वरूप, स्वभाव, मार्ग, साधनावस्था, तदर्न्तगत अवान्तरव्यापारानुष्ठान; और फलप्राप्ति में एकमेवाद्वितीय तत्त्वके बहुभवनके संकल्पवश प्रकट हुयी विभिन्नता इस सृष्टिकी एक ब्राह्मिक वास्तविकता है.

फिरभी उल्लिखित श्रुतिवचनमें प्राजापत्योंका द्वित्व प्रतिपादित किया गया है और तदनुसार भगवद्गीताके भी **''द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरएव च''** वचनमें भी दैवत्वेन या आसुरत्वेन भगवान्के द्वारा किये गये दो तरहके वरणके वश जीवप्रभेद स्वीकारा गया है. लोकमें इन दोनों तरहके जीवोंके प्रकट होनेपर इनमें अपने-अपने स्वरूपानुरोधवश स्वभावोंका द्वैविध्य भी यहीं भगवद्गीतामें दिखला दिया गया है. बावजूद इसके, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी सदंशभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति(माया)के विकारतया उद्भूत देह इन्द्रिय प्राण एवम् अन्तःकरणों की उपाधिओंसे ग्रस्त जीवात्मा ही जगत्में जनम लेती है; अतः जीवात्माओंमें भी औपाधिक त्रैगुण्य प्रकट हो जाता है. अतएव भगवद्गीताके अन्तिम षट्कके तीन अध्यायोंमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग श्रद्धात्रयविभागयोग; तथा संन्यासयोगके आनुषंगिकतया भी, जीवात्माके साथ जुड़ी श्रद्धा यजनीयनिष्ठा तप आहार यजन

यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता करण कर्म कर्ता बुद्धि धृति एवं सुख आदिरूपोंमें अनेकविध त्रिगुणात्मकताका प्रतिपादन मिलता है. जीवोंमें ये विविध प्रकारके त्रैगुण्य जीवात्माओंके देहधारी बननेपर ही प्रकट होते हैं.

इस औपनिषदिक निरूपणके सन्दर्भमें सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि आचार्यचरणाभिप्रेत जीवत्रैविध्यके अन्तर्भूत मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय जीव **''तान् अहं द्विषतो' वाक्याद् भिन्नाः जीवाः प्रवाहिणः. अतएव इतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः''** (पु.प्र.म.११) इस वचनके अनुसार उपनिषद्भगवद्गीतोक्त दैव वर्गके ही अवान्तर भेद हैं.

परन्तु

''वैष्णवत्वं हि सहजं ततो अन्यत्र विपर्ययः, सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थाः तथा अपरे 'चर्षणी'शब्दवाच्याः ते. ते सर्वे सर्ववर्त्मसु क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिः तेषां न कुत्रचित्... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्. जीवाः ते हि आसुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः अज्ञाः तान् अनु ये पुनः'' (पु.प्र.म.२१-२५).

इस प्रतिपादनमें जो पुनः प्रवाही जीवोंके दुर्ज्ञ और अज्ञ जीवरूपी दो अवान्तर प्रभेद दिखला दिये गये हैं यह विषय किञ्चित् विवेचनसापेक्ष है.

क्योंकि इन दोनों प्रकारोंके अन्तर्गत अज्ञजीवके प्रवाही या चर्षणी होनेका स्वभाव, एकसे आरम्भ कर सहस्रपरिवत्सर पर्यन्त भी क्यों न हो, होता है वह परिगणित जन्ममरणके चक्रवत् चलते सान्त प्रवाहमें अन्तःपातको लक्ष्यमें रख कर ही. जबकि दुर्ज्ञजीवका प्रवाही या चर्षणी होना सृष्टिके आदिसे लेकर महाप्रलय पर्यन्त निरन्तर चलते जन्ममरणके चक्रवत् प्रवाहको लक्ष्यमें रख कर किया गया है. क्योंकि सुस्पष्ट शब्दोंमें महाप्रभु अज्ञजीवोंको भगवत्प्रोक्त आसुरभावोपेत माननेके बजाय दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणवश ही आसुरभावापन्न होनेवाले मान रहे हैं. अतः दुर्ज्ञजीवोंको 'आसुर' कहना यदि उचित हो तो, अज्ञजीवोंको 'आसुरावेशी' कहना ही उचित होगा.

इस तरहके आसुरावेशके मूलमें दो कारण दिखलायी देते हैं :

[१] संसारनिवृत्त्यौपयिक जन्मवरणके अभावमें जीवके भीतर श्रद्धा, यजनीयविशेषमें निष्ठा, यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन, तदनुष्ठानौपयिकी बुद्धि धृति या सुखस्पृहा, तन्मूलक ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता या करण-कर्म-कर्ता की अन्यतर त्रिपुटीमें तामसी दुर्ज्ञ असुरोंके अनुसरणवश पनपी सात्त्विक-तामसता या राजस-तामसता होती है.

अथवा

[२] भगवदवतारकालिक लीलाविशेषमें दो-चार जन्मोंमें अपेक्षित भगवल्लीलात्मिका तामसी आसुरभावावेशिता भी पुराणोंमें वर्णित हुयी है.

क्योंकि श्रुतिमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि रमणीय अर्थात् शुभ आचरणवाले जीवोंको रमणीय शुभयोनि मिलती है और कपूय अर्थात् अशुभ आचरणवाले जीवोंको अशुभयोनि. अतः ये शुभाशुभ कर्म अपने भीतर बिराजमान अन्तर्यामी परमात्माकी प्रेरणाके अनुसार ही जीव करता है :

१.''तद् ये इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्... अथ ये इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिम् आपद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'' (छान्दो.उप.५।१०।७).

२.''एष उ एव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौषि.उप.३।८-९).

३.''अथ एतयोः पथोः न कतरेण च तानि इमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व इति एतत् तृतीयस्थानं ... तस्माद् जुगुप्सेत... स्तेनो हिरण्यस्य, सुरां पिबन् च, गुरोः तल्पम् आवसन्, ब्रह्महा एते पतन्ति चत्वारः; पञ्चमः च आचरन् तैः'' (छान्दो.उप.५।१०।९).

इन तीन वचनोंमेंसे अन्तिम वचनमें यह कहा गया है कि साधारणतया असाधु कर्मोंके आचरण करनेके कारण अशुभयोनि या पातकी या नरकगामी होनेकी अधोगति जीवोंको प्राप्त होती है. साथ ही साथ, किन्तु, यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित जीवोंके संग करनेवाले भी सहचारितया पतित गिने जाते हैं. यह ''पञ्चमः च आचरन् तैः'' श्रुतिके वाक्यांशमें निरूपित हुवा है. अतएव याज्ञवल्क्यादि स्मृतिओंमें भी ''ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः तथैव गुरुतल्पगः एते

महापातकिनो यः च तैः सह संवसेत्'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.अध्या.२२७) सदृश वचन उपलब्ध होते हैं.

इन और ऐसे अन्य भी अनेक पातक या उपपातक कर्मोंकी तरह उनके प्रायश्चित्तोंकी भी लम्बी सूची धर्मशास्त्रमें मिलती है. अतः प्रायश्चित्तद्वारा शुद्ध हुवे जीवोंको अधोगामी माना नहीं जा सकता. अन्यथा प्रायश्चित्तविधिके व्यर्थ होनेकी आपत्ति होगी. इन आसुरावेशिओंद्वारा अनुसरणीय माने जाते जो आसुर जीव होते हैं वे तो अपने पातक कर्मोंको कभी हेय या अनिष्टजनक मान नहीं पाते. अतएव प्रायश्चित्तार्थ भी उत्सुक या उद्यत हो नहीं पाते. यों भगवद्गीतोक्त ऊर्ध्वगामी सात्त्विक और अधोगामी तामस जीवोंसे अतिरिक्त तृतीय राजसकोटिके जीवोंकी एक पृथक्कोटि मान्य रखनी पड़ती है. अतएव सात्त्विक दैवी(पुष्टि/मर्यादा) जीवों और तामस दुर्ज्ञजीवों के वर्गोंसे पृथक् तामसभावापन्न सात्त्विक या राजस अज्ञजीवोंके मध्यपाती वर्गका प्रतिपादन आचार्यचरणने भी किया है. अतएव जब ये मध्यपाती सात्त्विक या राजस जीव तामस जीवोंका संग और तामस कर्मोंका आचरण छोड़ कर, अर्थात् अपने सात्त्विक या राजस जन्म या मनोवृत्ति के कारण पनपी औपाधिकी तामसताको छोड़ कर, सात्त्विकताकी दिशामें अग्रसर होना चाहते हों तो ऐसा भी एक वर्ग जघन्याधिकारियोंका स्वीकारना ही पड़ता है.

तामस समुदायमें जन्म या संग के वश इन सात्त्विक या राजस जीवोंमें न तो ऊर्ध्वगमनसामर्थ्यरूपा सात्त्विकता प्रकट हो पाती है और न अधोगमनार्हतारूपा तामसिकता ही. ऐसे मध्यमकोटिके राजस जीवोंके भीतर भी दुःसंग या प्राक्तनजन्मीन दुष्कर्मोंके कारण तामसस्वभाव तामसगुण तामसकर्माचरण और तामसमनोभाव प्रकट होते हैं.

इसी तरह इन्हीं दोनों वर्गोंके कुछ अन्य जीवोंमें अज्ञानजन्य तामसिकता भी सम्भव है. अतएव भगवद्गीताके **''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च''** वचनमें लोभको राजस भाव माना है. ज्ञानमूलक सन्तोषके भाव/व्यवहार और अज्ञानमूलक असन्तोषके भाव/व्यवहार के बीच आन्दोलित अस्थिरता राजसी ही होती है, अतः लोभको राजसताके अन्तर्गत मान्य रखा गया है. तामसताके अन्तर्गत अज्ञान प्रमाद और मोह को

गिनाया गया है. स्वाभाविक रूपमें तामसकर्माचरण और तामसगुणधर्म जो अज्ञान या प्रमाद के वश प्रकट होते हैं, उनका तो निवारण तात्त्विक ज्ञान या प्रायश्चित्त द्वारा सुकर होता है. इसके विपरीत तामसिक मोहसे ग्रस्त व्यक्तिके उदाहरणमें इन दोषोंका निवारण शक्य नहीं हो पाता.

सर्वविधपुरुषार्थसाधारण जघन्याधिकारके प्रभेद :

इन सारे तथ्योंको लक्ष्यमें रखनेपर, न केवल आत्मोद्धारौपयिक पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कर्म-ज्ञान-भक्तिलभ्य मुक्ति या धर्म से सम्बन्धी अलौकिक पुरुषार्थोंमें ही; अपितु व्यवहारौपयिक अर्थकामादिसे सम्बन्धी लौकिक पुरुषार्थोंके बारेमें भी जघन्याधिकारिताके तीन प्रकार सोचे जा सकते हैं : [१]अज्ञान या प्रमाद से जन्य अनिन्दित जघन्याधिकार [२]तामसिक संग या मानसिकता से अध्याहृत निन्दित जघन्याधिकार और [३]स्वभावविहित तामसिकताके वश निषिद्ध जघन्याधिकार. इनमें तामसता समान होनेपर भी अज्ञान या प्रमाद तो बुद्धि या शरीर से सम्बन्धी निवारणार्ह मन्दता या अदक्षता होनेके कारण समानकोटिमें निविष्ट मानी गयी हैं. अतएव अज्ञान प्रमाद या दुःसंग की उपाधिके कारण पनपी अज्ञजीवोंकी औपाधिकी तामसिकता उन्हें प्रवाहकोटिगत अनिन्दित या निन्दित जघन्याधिकारी बनाती है. जबकि स्वाभाविकी तामसिकता दुर्ज्ञजीवोंको निषिद्धकोटिगत जघन्याधिकारी सिद्ध करती है.

विचार्यविषयके द्वितीयांग संशयका स्वरूप :

संशयघटक प्रथमकल्प : यों इन तीन कोटियोंको लक्ष्यमें रख कर पुष्टिमार्गमें जघन्याधिकारिताकी शास्त्रीय विवेचनाके हेतु जब हम अग्रसर होते हैं तो लगभग इतने तरहके कल्प विचारार्थ प्रस्तुत होते हैं :

(१) जीवसृष्टिके पुष्टि मर्यादा या प्रवाह रूपी त्रिविध सर्गभेदमें जघन्याधिकारिता. इसके अन्तर्गत : /क/पुष्टिप्रवाह या मर्यादाप्रवाह अवस्थावाले अनिन्दितकोटिके सात्त्विक जघन्याधिकारी होते हैं. /ख/ दुष्कर्मजन्य दुर्वासनाके वश या दुःसंगवशात् प्रावाहिकी तामसी मनोवृत्तिवाले सात्त्विक या राजस कोटिके अज्ञजीव निन्दितकोटिके जघन्याधिकारी होते

हैं, जब तक वे निन्द्य वृत्ति या वृत्त से पराङ्मुख नहीं होते. /ग/आसुरी सृष्टिके सातत्यके हेतु भगवान्ने सृष्ट्यारम्भमें ही जिन जीवात्माओंका प्रवाहमार्गीयतया वरण किया हो, ऐसे दुर्ज्ञजीव निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी होनेसे पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय दैवी साधनाके हेतु निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी माने जाते हैं. अज्ञजीव भी जब तक दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणसे विरत हो कर सन्मार्गार्थ उत्सुक या उद्यत न हो तब तक दोनोंमें एकवद्भाव माना जाता है.

(२) पुष्टिसृष्टिके अन्तर्गत भी पुष्टिजीवोंके जन्मविशेषमें प्रकट होनेवाले सात्त्विक राजस या तामस गुण धर्म या स्वभावों के प्रभेदको लक्ष्यमें रखनेपर पुष्टिमार्गीय दीक्षा-उपदेशके ग्रहण-प्रदानसे सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यहां भी अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण जो दुर्ज्ञजनोचित मनोवृत्तिको छोड़ देने उत्सुक या उद्यत हो उसे अनिन्दित जघन्याधिकारी तथा अवशिष्ट अज्ञ और दुर्ज्ञ जीवोंको यथायथ निन्दित या निषिद्ध अधिकारी मानना चाहिये.

(३) पुष्टिमार्गीय उपदेश सत्संग या दीक्षा के कारण जो पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त होना चाहते हैं, ऐसे व्यक्तिओंको पुष्टिप्रपत्तिमार्गीय अथवा पुष्टिभक्तिमार्गके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रय/सप्तविधाभक्ति अथवा भगवत्सेवा या भगवत्कथा से सम्बन्धित सत्संग अथवा उपदेशप्रदान या उपदेशग्रहण से सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार भी होते हैं. यहां भी निबन्ध षोडशग्रन्थ साधनदीपिका आदि ग्रन्थोंमें जो तत्तत् साधनाओंकी अधिकारिताके जो-जो निकष निर्दिष्ट हैं, उनके बारेमें अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण विपरीत आचरण या मनोवृत्तिवाले जीव भी अपना वैपरीत्य छोड़ने उत्सुक या उद्यत हों तो उन्हें अनिन्दित जघन्याधिकारी मानना चाहिये. अवशिष्ट दोनों प्रकारोंको निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारी मानना चाहिये.

(४) ऐसे ही पुष्टिमार्गीय जीवोंको भगवत्स्वरूप भगवत्कथा या भगवद्भाव से सम्बन्धी रहस्योपदेश के प्रदान या ग्रहण से सम्बन्धी भी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यह भी पुनः साम्प्रदायिक सन्दर्भसापेक्ष अधिकारिता है. अतः आचार्यचरण-प्रभुचरणनिर्दिष्ट अधिकारिताके निकषोंको ही पूर्ववर्णित निर्धारणरीतिसे लक्ष्यमें रख कर अनिन्दित निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारिता स्पष्टतया अवधारणीय होती हैं.

मुख्यगौणभाववश विचारित भेदोपभेदोंका यह संकलन निश्चयेन स्थूलरूपेण ही है. अतः स्वाभाविक रूपमें विशेषेण पृथक्पृथक् विवेचन करनेपर तो इन वर्गोंमें चारसे कहीं अधिक संख्या सामने आयेंगी ही.

(ख)

संशयघटक द्वितीयकल्प : यह पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी गो.श्रीहरिराय (जाम.)के चर्चासभाके समय अथवा बादमें भी प्रकट हुवे वचनोंके आधारपर प्रस्तुत हो रहा है. यह या तो आजीविकार्थ देवाराधनाद्वारा उपार्जित या भगवद्दर्शनार्थी जनताद्वारा अर्थार्थिओंद्वारा प्रदर्शित भगवत्सेवार्थ प्रदत्त द्रव्यके उपभोगको उचित ठहरानेका पक्ष है **''कृष्णसेवा सदा कार्या... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा, अतः सेवार्थम् अर्थार्थी भक्तः शास्त्रे व्यवस्थितः''** वचनद्वारा केवल अर्थार्थीके ही सन्दर्भमें भक्तिके जघन्याधिकारकी विवेचना वे यों करते हैं :

१.उत्तम मध्यम जघन्य साक्षात् स्वरूप/सेवासम्बक्ध्यर्थार्थी भक्तोंका त्रैविध्य.

२.जघन्यभक्तके उपभेदतया अतिजघन्य और अतिजघन्यतर लोकार्थी भक्तोंका द्वैविध्य.

३.अतिजघन्यतरभक्तके उपभेदतया जघन्यतम भक्त, अतिजघन्यतम भक्त और अभक्त.(गदा.पदा.त.त.पृ.२५)

पुष्टिभक्तोंका इस तरहका विवेचन **''एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः''** न्यायेन जो पठित पुष्टिमार्गी हैं उनकेलिये तो उपेक्ष्य होनेपर भी **''एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः''** न्यायेन शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको ही इस तरहके काव्यकल्पनाद्वारा उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित प्रत्युत आवश्यक लगता है.

संशयघटक निरसनीय कल्पकी निरासिका युक्त्यष्टकमाला :

ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञेयं तद् अस्माद् व्यतिरिच्यते।

तल्लीलात्वेऽपि सृष्टेस्तु भक्तिः सृष्टौ विलक्षणा।।
निरुपध्यात्मरत्यास्तु वैशिष्ट्याद् इतरासु च।
अतो ह्यर्थार्थिभक्तेस्तु नैवात्मरतिरूपता।।

(१)

प्रस्तुत अर्थार्थित्रैविध्यमें ''प्रथमग्रासे मक्षिकापातः'' सदृश सर्वप्रथम दोष तो यही है कि अर्थार्थित्रैविध्यका यह विभाजन पदार्थविभाजनकी विधिसे सर्वथा अपरिचित व्यक्तिद्वारा प्रस्तावित है. क्योंकि तृतीयतया उल्लिखित साक्षात्स्वरूपसम्बक्ध्यर्थार्थी यदि मूलवर्ग हो तो उसके उपवर्गतया द्विविध लोकार्थिओंकी परिगणना वदतोव्याघात दोषकी जनक होगी. विशेष रूपमें इस कारणसे कि मूलवर्गके इस तृतीय अर्थार्थीको संसारनिवृत्तिकी कामनासे भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला जघन्य संसारी भक्त माना गया है. ऐसी स्थितिमें इसके उपभेदतया लौकिक/ऐहिक फलकी कामनाओंके वश भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालोंका अतिजघन्य अथवा अतिजघन्यतर होना बाधित हो जायेगा. यदि बाधित होता न मानें तो जघन्य अतिजघन्य और अतिजघन्यतर के प्रभेद ही बाधित हो जायेंगे. पुनः अतिजघन्यतर भक्तके द्विविदप्रज्ञौपयिक ऐतिहासिक पेचोंके पिटाराके रूपमें – शब्दोंमें द्विविध और रेखांकनमें त्रिविध – जघन्यतमभक्त और अतिजघन्यतमभक्त और अभक्तदेवलक ऐसे अवान्तर उपभेदोंमें तो कोटिद्वयावगाहिता पराकाष्ठापर आरूढ हो गयी है! (द्रष्ट. : गदा.पदा.त.त.इतःपरं 'गदापदातत' नाम्ना उल्लेख्य पृ.२५). भला ऐसा भी कभी हो सकता है कि पदार्थ मूलतया दो तरहके होते हैं [१]भाव और [२]अभाव. और ऐसा स्वीकार लेनेके बाद यह कहना कि द्रव्यादिषट्क और द्विविदोंमें धर्ममतिका अत्यन्ताभाव [१]भावपदार्थ होते हैं. जबकि प्रागभावादिकी चतुष्टयी [२]अभावपदार्थ होती है. क्योंकि द्विविदाधिकरणानुयोगिक धर्ममतिप्रतियोगिक अभाव तो अभाववर्गकी कोटिमें ही अन्तर्भूत माना जायेगा. अतः ऐसा पदार्थविभाजन या तो किसी 'महाकवि'की अनन्यप्रतिभाके वश कल्पित सन्देह या भ्रान्तिमान् अलंकारोंका प्रयोग हो सकता है. अन्यथा तो असदालाप ही माना जा सकता है. पण्डितोंकी सभामें प्रतिपादनीय पदार्थविभाजन तो कदापि नहीं!

(२)

यह अर्थार्थित्रैविध्य भगवद्गीताशास्त्रके जिस श्लोकके आधारपर उट्टंकित है उसकी व्याख्या श्रीपुरुषोत्तमजी क्या-कैसी करते हैं यह भी अवलोकनीय है :

''ननु एवं सति कथं न सर्वे प्रपन्नाः भवन्ति ? इति आह 'न माम्' इति, मां दुष्कृतिनो=दुष्कर्मकर्तारः पापाः मूढाः=पशुवद् विवेकरहिताः नराधमाः=नरेषु अधमाः, केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः, मां न प्रपद्यन्ते. ननु उपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्ते ? इत्यतः आह 'मायया' इति, 'माया'इति पदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यम् उक्तम्... ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षति ? इत्यतः आह 'आसुरं भावम् आश्रिताः', मद्विरोध्यासुरसंगेन तद्भावं प्राप्ताः. अतो मया न रक्ष्यन्ते... एवं दुष्टकर्मकर्तारो न भजन्ति इति उक्तम्. तर्हि के भजन्ति ? इति आकांक्षायाम् आह 'चतुर्विधाः' इति. 'हे अर्जुन!' इति सावधानतया श्रोतव्यत्वेन सम्बोध्य. 'सुकृतिनः'=पूर्वजन्मसञ्चितपु ण्यराशयो जनाः मां भजन्ति. अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात्... चतुर्विधत्वं प्रकटयति 'आर्तः' इति, 'आर्तः'=संसारक्लेशादियुक्तः तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति. 'जिज्ञासुः'=कामात्मकमत्स्वरूपज्ञानेच्छुः कामरूपेण मां भजति. 'अर्थार्थी'=मत्सेवौपयिकसाधनसम्पत्यर्थरूपेण मां (नतु भगवत्सेवार्थम् अर्थकामनया) भजति. 'च'=पुनः. 'ज्ञानी'=शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति.'भरतर्षभ!' इति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिः भवति इति ज्ञापनार्थम् (अमृ.तरं.७।१५-१६).

अतः कहां तो भागवतोक्त तथा महाप्रभूक्त चतुःश्लोकिओंमें धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थतया केवल भगवदर्थी बन कर भगवद्भजन करनेका श्रीपुरुषोत्तमप्रतिपादित आशय और आदर्श और कहां यह अपनी अदान्त धनकामनाके वशीभूत चतुर्विध भक्तोंके अन्तर्गत केवल अर्थार्थीका त्रैविध्यकरण! अर्थात् भगवत्स्वरूपार्थ या स्वरूपसेवार्थ लौकिकार्थकी कामनाकी वक़ालत करनेको अर्थार्थी भक्तकी कोटिमें ज्ञानी और जिज्ञासु भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव

स्वीकारनेपर तो भजनकर्ताओंका चातुर्विध्य ही निरस्त हो जाता होनेसे ''मूलं नास्ति कुतः शाखा ?''न्याय गले पतित होता है.

इतने द्विविदवैदुष्यके प्रकाशनके बावजूद मानों सन्तोष न हो पाया होनेके कारण बेचारे श्रीप्रभुचरण एवं श्रीपुरुषोत्तमजी को भी अपनी ही बात करनेवाले मान कर अर्थार्थित्रैविध्यकी उपपत्ति और देनी चाही है! यह श्रीपुरुषोत्तमजीके **''प्रभुणा अनंगीकारेऽपि आचार्यदयया 'नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः' इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाद् जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवति''** ('गदापदातत'पृ.८) इस वचनके आधारपर करनी चाही है!

वस्तुतः तो जघन्याधिकारियोंके प्रसंगके प्रारम्भमें ही श्रीपुरुषोत्तमजीने इसका खुलासा कर दिया है : **''जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्ति इति आशयेन 'संसारी' इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति 'यस्तु प्रपञ्चासक्तो... साक्षात्स्वरूपसम्बक्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति' इत्यन्तम्''** इसके बाद इस तरह क्लेश पानेवालेकी अन्तमें क्या गति होगी उसके खुलासाके लिये सेव्यप्रभुद्वारा तत्कृतसेवाके अंगीकार और अनंगीकार के दो सम्भावित कल्प प्रस्तुत किये हैं. अंगीकारके कल्पमें कृतभजन व्यर्थ नहीं जाता होनेसे जन्मान्तरमें फलदायी बनेगा ऐसी फलश्रुति प्रकट की. अनंगीकारकल्पमें स्वयं भजनमें ही प्रतिबन्ध आ पड़ेंगे और तब तो औरभी दुःसह विलम्बेन भजनकर्ताका चित्त भगवान्में न जाने कब चोंट पायेगा! यदि मर्यादितसंख्याक अग्रिम तीन-चार जन्मोंकी भी बात होती तो अनिश्चायक 'जन्मान्तर' पदका प्रयोग न करते.

इसके बाद महाप्रभुकी **''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा''** (सिद्धा.मुक्ता.१६-१७) पंक्तिओंकी व्याख्या प्रभुचरणने क्यों नहीं लिखी इसके समाधानतया श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं **''लोकार्थी...' इति श्लोकस्तु संसारिमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षितः''** . एतावता संसारी और लोकार्थी को एक मान कर लोकार्थीके उपभेदतया दो प्रभेद बताना कथमपि उपपन्न नहीं होता. तिसपर यह विधान तो अकाण्डताण्डव ही है कि ''लोकार्थी भक्तके देवलकत्वका व्यावर्तन वहां स्वयं श्रीमत्पुरुषोत्तमजीने सि.मु.वि.प्र.में स्पष्ट

शब्दोंमें किया है'' ('गदापदातत'पृ.११). जो श्रीपुरुषोत्तमजी कह रहे हैं वह तो यही है कि संसारिताकी तरह लोकार्थिता भी दो तरहकी हो सकती हैं : १.लाभपूजार्थयत्नके उपधर्म होनेके कारण देवलकत्वसम्पादिका लोकार्थिता; २.भगवत्सेवाका अनुष्ठान जिसके द्वारा निज-आर्थिक लाभ निजपूजा के अभिवृद्ध्यर्थ (यथा : अपने सेवौपयिक गृहमें जनतासे द्रव्यग्रहणार्थ व्यापारिक पेढ़ीकी तरह समाधानी बैठाना - वहां जनताको ललचानेको मनोरथोंके विज्ञापन लगवाना आदि हेतुओंके वश) न हो ऐसे व्यक्तिकी लोकार्थिता.

एतदर्थ सिंहनंदके निवासी क्षत्रिय स्त्री-पुरुषकी वार्ताका भावप्रकाश अनुसन्धेय है :

''तब श्रीआचार्यजी कहें 'तुम कहो तो सही!' तब दोऊनें कही 'हमकों यह मनोरथ है जो या जन्ममें याही शरीरसों श्रीठाकुरजी हमसों बोलें कृपा करें'... तब श्रीआचार्यजी कहें 'इतनो कष्ट, व्रत करि सरीरकों देत हो, सो श्रीठाकुरजीके सेवा-सुमरिनमें मन लगावो तो याहि जन्ममें प्रभु कृपा करें'. तब स्त्री-पुरुष दोऊनने कह्यो 'महाराज! श्रीठाकुरजीकी सेवा कैसें बनें? हमनें तो कछू नाहीं पास राख्यो. यह दोय कपरा मेले पहरे हैं. और मा-बापके पास द्रव्य है सो संसारसुखकेलिये मांगे सो देई परन्तु परमार्थके अर्थ श्रीठाकुरजीके नामपर एक कोड़ी न देइंगे. हमसों द्वेष करत हैं. सो भगवत्सेवा बिना द्रव्य कहांते होय?' तब श्रीआचार्यजी कहें जो 'वे द्वेष करें तामें तो तुमकों आछो है. बहिर्मुखसों बोलनो मिट्यो और सेवा लायक दोय-चार-आठ घरी कछू उद्यम करोगे तो वाहीमें तुमकों निर्वाह जोग मिलेगो. ताहिमें निर्वाह करियो. सेवार्थ शरीरको कष्ट होय तब धीरज धरि दुःख सहो तो श्रीठाकुरजीसों सह्यो न जाय. तुमकों जतावेंगे. तातें हम थानेश्वरके वैष्णवसों कहि देंगे तुमकों उधार देइंगे व्योपार हू सिद्ध करि देइंगे. परन्तु तिहारो मन भगवत्सेवा करनमें होय तो उपाय श्रीठाकुरजी सब करेंगे. जो मन न होय तो तिहारी तुम जानों'... तब स्त्री-पुरुष दोऊनके मा-बाप इनकी निन्दा करन लागे जो 'पहलें तो दोऊ बड़े त्यागी हते. अब वैष्णवसों भीख मांगिके निर्वाह करत हैं'...

तब पुरुषके मनमें बुरी लागी तब स्त्रीसों आय कही जो 'तेरे मा–बाप – हमारे मा–बाप जहां–तहां निन्दा करत हैं'. तब स्त्रीने जो 'तुमारे मा–बाप सांचे हैं. अपने पास कहा हतो, एक कोड़ी न हती. सो सब वैष्णवनने श्रीआचार्यजीके सेवक जानिकें करि दियो है. सो अब अपन सुखी हैं परन्तु परन्तु या प्रकार श्रीठाकुरजी सेवा मानेंगे नाहीं. अपुनो धर्मनास भयो. वैष्णवसों पूजायके धन ले निर्वाह अपुने किये. सो अपुनेको धिक्कार है... श्रीठाकुरजी प्रसन्न करिवेके लिये श्रीआचार्यजीकी सरनि आये, सेवा पधराये. कछूं वैष्णवसों पूजायवेकेलिये अपुनी बड़ाईकेलिये वैष्णव नहीं भये. तातें अपनो धर्म राख्यो चहिये. होय तो श्रीठाकुरजीकों लें या गामते ओर ठोर कछूक दूरि निकसी चलें''' (८४।६२भा.प्र.).

इस वार्ताको पुष्टिप्रभुकी सेवाकी रीतिका आदर्श क्यों नहीं मानते ? क्यों केवल गदाधरदासकी वार्ताको ही प्रमाण मानते हैं ? उत्तरतया एक ही बात सामने आती है अचिकित्स्य अर्थैषणान्धता. ऐसी अर्थैषणान्धताके वश तो कोई देहविक्रयार्थ हाट लगा कर बैठी हुयी पुष्टिमार्गीय वारवधू भी ऐसा कह सकती है –

''न तो मैं देहविक्रय करती हुं और न हाटपर बैठ कर स्वैरियोंको ललचाती हुं. अतएव देहविक्रयार्थ सरकारी रजिस्टरमें लायसंस्के नंबरको स्वधर्मनिर्धारणमें प्रमाण भी नहीं मानती. क्योंकि स्वधर्मनिर्धारणमें तो 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्' के सनातन धर्मादेशको ही प्रमाण माना जाता है, आम्बेडकरस्मृतिको नहीं. अतः मैं तो कामार्त जघन्य पुरुषोंकी आर्तिका नाशन करनेवाली भगवत्कृपासे स्वधर्मपरायण सन्नारी हुं. उत्तम पुरुष हट्टस्थस्त्रीकी हाटपर न जाते हों एतावता जघन्य न जायें तो क्या वे दरियामें डूब मरें ? जघन्य पुरुषोंके प्रति कुलवधुओंके ऐसे द्वेष तो धर्माधर्माग्रताका निरा ढोंग है. अतः मुग़लकालमें जैसे सनातनधर्मविरोधी कानून ताज़ीराते–हिन्दके फिरक़ानापरस्त फर्मानोंको लौकिक साधारण–प्रतिबन्ध मान कर हमारे महान् पूर्वाचार्य यथा बुद्ध्या समाधान कर भगवदर्थ तनुजा–वित्तजा–सेवा–निर्वाह कर लेते थे, उसी तरह मैं भी अपने हाटमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी सेवामें अधिक

प्रभुसुखसम्पादनार्थ राजभोग–नोरथादिके हेतु आये हुवे कामार्थी जघन्य पुरुषोंका द्रव्य यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते हुवे, 'सर्वलाभोपहरण'न्यायसे प्रभुको समर्पित करके प्रसादमात्र लेती हुं. शेष तो हाटकी दीनहीन गलियोंमें भटकते दलालोंके बीच वितरित कर देती हुं. आम्बेडकरस्मृतिग्रस्त होनेसे हट्टोपवेशनात्मिका उपाधि–अवच्छिन्न हुं, हवेलियोंमें बिराजमान गोस्वामिद्विविदोंकी तरह ही !'' (द्रष्ट. : 'गदापदातत'पृ.२३).

तो ऐसी वेश्यावृत्ति करनेवाली पुष्टिमार्गीय स्त्रीको भी सेवोपयोग्यर्थार्थी मान कर उत्तमकोटिकी पुष्टिभक्त मान लेना !

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार, परन्तु, प्रभुचरणने इस श्लोकका व्याख्यान क्यों नहीं किया, इसकी कारणमीमांसा यों की जा सकती है कि मूलमें संसारी जीव दो तरहके हो सकते हैं : [१]भगवत्स्वरूपार्थितया संसारनिवृत्तिकामी भक्त और [२]'ऐहिकं मम सिध्यतु'की मनोवृत्तिवाला कोई लोकार्थितया भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला. ऐसोंके लिये महाप्रभुने **''क्लिष्टो भवति सर्वथा''** आज्ञा की है. इस आज्ञाके अनुसार क्लेश पानेवाला क्लेश पा कर भी [२/क]भगवत्सेवा निभानेवाला दुराग्रही हो सकता है. भगवत्सेवाके ऐसे दुराग्रहका त्याग करनेकी आज्ञा महाप्रभुने ''गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम् इति आह 'विक्षेपाद्' इति, स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि... स्वस्य वा परमः आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति, लोकानां वा पीडां कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या''(त.दी.नि.प्र.२।२४७) आज्ञा ही की है. अतः ऐसे उपदेशके विपरीत आचरणद्वारा वह भगवान्को परिश्रम देता बन जाता है. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी इसे भक्त नहीं मान कर **'लोकार्थी सेवाग्रही'** कह रहे हैं. और [२/ख]भगवत्सेवाका अनाग्रही जो क्लेश पा कर सेवा त्याग कर देता है. अथवा उसके अनुकल्पतया प्रपत्तिमार्ग, सप्तविधभक्तिमार्ग, तीर्थाटन या कथा आदि कल्पोंका समाश्रयण करता है.

उल्लेखनीय है कि केवल प्रथमको ही श्रीपुरुषोत्तमजीने 'भक्त' कहा है परन्तु [२/क]आग्रही और [२/ख]अनाग्रही को 'भक्त' नहीं कहा, दोनोंके लोकार्थी होनेके कारण ही. इसका भी स्पष्टीकरण वार्तासाहित्यमें मिलता है. द्रष्टव्य :

''अबही तेरो चित्त द्रव्यमें है. ताते भगवन्नाम अबही तोकों फलेगो नाहीं. ताते तू जायके समुद्रके तीर बैठि. समुद्रकी लहरिमें तोकों द्रव्य मिलेगो. ता द्रव्यतें जो मनोरथ श्रीजगन्नाथजीको विचार्यो है सो पूर्ण करौ. पाछे सरनि लेंयगे. तू हमारो है; तातें अब तोकों संसारदुःख बाधा न करेगो. तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, द्रव्यमें मेरो मन बहोत है... मनमान्यो खरचूं जो पिता हूं सुनिके लाज पावें जो जगन्नाथरायजी ऐसे ठाकुर हैं'. तब आचार्यजी कहें जो 'जा तेरो मनोरथ पूरन होयगो'... तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, यामेंते कछू राखो'. तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे. हमारे तो जो कोई हमारो सेवक होय, खरी मजूरीको द्रव्य होय सो हम अंगीकार करत हैं''' **(भा.प्र. वार्ता ८४।७१).**

इस आचार्योद्गारके शुद्धमनसे मनन करनेपर तो स्पष्ट हो सकता है कि यही पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त है. यहां आचार्यचरणने भगवत्सेवार्थ अर्थार्थीको दीक्षादानार्ह भी नहीं माना. फिरभी पुष्टिजीवको पहचानते होनेके कारण उसकी अर्थार्थिताका उपशम करवा कर ही पश्चात् स्वमार्गमें उसे दीक्षित किया.

कहां यह वार्ता और कहां आज उनके वंशज होनेके अलावा किसी भी तरह योग्यतासे रहित हम गोस्वामिओंकी अर्थार्थीको भक्ततया बिरदानेकी देवलकी वासना! जबकि शास्त्रमें **''अर्थार्थी... यो देवं पूजयेत् सदा 'कर्मदेवलको' सर्वकर्मबहिष्कृतः''** ('पुसिसंशि'पदवीदानपत्रवाचक श्रीवल्लभ.कृत.विम.पृ.४१) अर्थार्थिको देवलक माना ही गया है. साथ ही साथ अवधेय है कि प्रभुचरणने तो देवलकको तो लाभपूजापरायण पाषण्डी मान कर सिद्धान्तमुक्तावलीकी किसी भी मुक्तिकोपम कारिकासे सर्वथा असम्पृक्त ही रखना उचित माना है.

अतः संसारी भक्तके अवान्तर उपभेदतया जो लोकार्थीका कल्प निरूपण किया है, वह सिद्ध नहीं हो पाता. अतः सिद्ध हो जाता है कि मूलमें श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा प्रस्तावित विभाजन अर्थार्थी भक्तका न हो कर – जो संसारी जीव भजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनके बारेमें ही है. क्योंकि वार्ताका स्वारस्य भी यही है कि लोकार्थीकी

लोकार्थिताके दोषके निवारण यदि शक्य लगता हो तभी पुष्टिजीव होनेकी सम्भावनाके वश उस संसारीको आचार्यानुग्रहद्वारक भगवदनुग्रहका पानेका अधिकारी माना जा सकता है. निष्कर्षतया कोई अपनी अर्थैषणाके अनुरूप उसे अर्थार्थी भक्ततया प्रस्तुत करना चाहता हैं तो वह तो स्वयं उसके ही स्वभावका प्रकाशन हैं.

भगवत्सेवकका अर्थापेक्षी/कामुक अथवा अर्थनिरपेक्ष/कामवासनारहित होना एक कथा है; और, भगवत्सेवापरायणको अर्थार्थी जघन्य कोटिका भक्त मान कर, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात् ऐसोंको भी भक्तिमार्गीय घोषित करना कोई दूसरी ही कथा है!

वैसे न तो सभी संसारी लोकार्थी होते हैं और न सभी लोकार्थी अर्थार्थी ही. अतः सभी अर्थार्थिओंको तो लोकार्थी माना जा सकता है और सभी लोकार्थिओंको संसारी भी परन्तु सभी लोकार्थिओंको अर्थार्थी नहीं. वस्तुतः प्रभुचरणके सेवक स्त्री-पुरुष ब्राह्मण गुजरातवालोंकी वार्ता पढ़ी होती तो पता चलता कि-

''तब पुरुष न्हायके स्त्रीके पास आयकै पूछ्यो जो 'तोकों भयो कहा?' तब स्त्रीने कही जो 'मैं तो सेवा तब करूं जब वैभवसों करों'. तब पुरुषने कही जो 'आछो वैभवसों करियो'... पुरुषने स्त्रीसों कह्यो जो 'तू एक काम करि... यहांते कोस एक ऊपर एक रूख है सो तहां जायकै ता रूखके नीचे खोदियो सो द्रव्य निकलेगो. सो टोकरी भरि ल्यायकै वैभवसों सेवा करियो'... तब रूखमें सों बानी भई जो 'हमको तूं कछू दे जा तब द्रव्य लेजा... जो एक झारीको फल देजा'... तब याने कही जो 'ये तो नहीं देउंगी' तब वाने कही 'अधिक होय सो तू राखियो घटती होय सो मैं राखूंगो'... तब पुरुषने कह्यो जो 'निष्कंचनतासों झारी भरे सेवा करे ताके फलको कहा कहनो... अब तू ये विचारि जो झारीको फल कितनो है और ये द्रव्य कितनो है?' पाछे वा स्त्रीने कबहू द्रव्यकी कामना कीनि नाहीं और अपने मनमें कहे जो 'मैं झारी ही भरिवो करूंगी' सो वह स्त्री

निष्कंचनतासों झारी भरे और सेवा करे. सो वे स्त्री-पुरुष निष्किंचनतासों सदैव सेवा करते'' (२५२।१५९).

आधुनिक हम गोस्वामिद्विविदोंकी मतिके अनुसार तो ये स्त्री-पुरुष भगवत्सेवाके अतिजघन्यतम अधिकारी होने चाहिंये. क्योंकि गामको अपने सेव्यप्रभुके दर्शन करा कर *''भगवच्छास्त्रोक्त सर्वलाभो(?भाऽ !)पहरणन्यायसे स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग-नोरथादि''* ('गदापदातत'पृ.२३) नहीं करवाते थे. कहां तो भावप्रकाशकार महानुभाव श्रीहरिरायजीका **''या वार्ताको अभिप्राय यह है जो कोऊ निष्कंचन दीन ह्वै निष्कामभावसों भगवत्सेवा करत है तापें श्रीठाकुरजी प्रसन्न होत हैं''** (वहीं) यों कहना और कहां हम आधुनिक गोस्वामिओंकी अर्थैषणाकी अचिकित्स्य मनोग्रन्थि!

ऐसी तो एक नहीं अनेक वार्ताओंमें निष्कंचनोंकी भगवत्सेवाका नेगभोगरागवैभवकी सेवासे कहीं अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है. उसपर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती? हमने अपने हृदयमें अन्योंके वित्तापहारकी ही मनोग्रन्थि इतनी क्यों दृढ़ बांध रखी है? उसे थोड़ी शिथिल करें तो निष्कंचन भगवदीयोंकी वार्ताका भाव बुद्धि/हृदयमें प्रकाशित हो पायेगा. अतः ग्रामसे धन लिये बिना कोई अर्थार्थी, यदि गदाधरदासजीकी तरह, क्लेश पाते होते तो और सचमुचमें यदृच्छालाभसन्तुष्ट होते तो इस वचनके विषय माने जा सकते थे. अपनी हवेलीकी पेढ़ियोंमें समाधानीकी दलाली द्वारा धनलाभ पानेवाले हम तो कथमपि नहीं. अन्यथा आचार्यवचनप्रमाण्य ही अक्षुण्ण नहीं रह पायेगा.

(३)

ऐसा नहीं कि भगवच्छास्त्रमें जहां-कहीं 'जघन्य' शब्द दीखे तो उसका अर्थ सीधा देवलक ही होता है जैसा कि आक्षेप लगाया गया है (द्रष्ट. : 'गदापदातत'पृ.८). फिरभी विस्तृतविवरणमें से कुछ चर्चाके उद्धरण इस सन्दर्भमें अवलोकनीय हैं :

गो.श्या.म. : हां जो पैसा लेके सेवा करता है... देवलक हुवा कि नहीं?... और निषिद्ध कोई भी प्रकारसे सेवा करता है तो वह यह यदि सेवा ही न हो तो 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' तो सेवामें मदिरा अर्पण करे तो वह भी कल्याणकृत् होता है क्या? क्योंकि मदिरा भी उसने अर्पण तो की! इस अर्थमें कह रहा हुं निषिद्ध प्रकारसे सेवा करनेपर.

गो.हरिराय : नहीं. ये निषिद्ध प्रकारसे नहीं कर रहा है.

गो.श्या.म. : निषेध तो देवलकत्वसे प्राप्त हो ही गया. क्योंकि नहीं तो तनुजाकर्ता और देवलक का अन्तर स्पष्ट करें आप.

गो.हरिराय : वो जो है केवल वो अपने पैसे कमाके धंधा करनेकेलिये या इस कार्यके लिये नहीं कर रहा; वो केवल लोकार्थी है. लोक उसका चले.

गो.श्या.म. : नहीं-नहीं. मैं लोकार्थीकी बात बात नहीं कर रहा हुं.

गो.हरिराय : नहीं. ये तो उसको लोकार्थीमें भी ले लिया जाये तो. आया न ध्यानमें.

गो.श्या.म. : नहीं. मैं तो निषेध्यकोटिके लोकार्थीकी चर्चा कर रहा हुं. उससे तनुजसेवाकर्ताको भिन्न कैसे करना?

(विस्तृ.विव.पृ.२२३-२२४).

उक्त चर्चासभाके बाद प्रकाशित विशोधनिकाके 'दे-धनाधन' द्वितीय प्रकरण (पृ.२९)में भी मैंने सेवाकर्ताके [१]भक्त [२]भक्त्यर्थी और [३]अभक्त्यर्थी भेद दिखलाया. [३]अभक्त्यर्थीके पुनः ॠअॠअ अनिषिद्ध लोकार्थी और ॠआॠअ निषिद्ध वृत्त्यर्थी दिखलाये ही है. एतावता सिद्ध होता है कि न तो चर्चासभामें और न आज भी मेरे लेख-प्रवचनोंमें मैंने कभी ऐसा प्रतिपादन किया. अतः जब निन्दित लोकार्थी अपनी निन्द्य मनोवृत्तिका त्याग कर, अर्थात् अर्थार्थिताका परित्याग कर, ''आये कष्टं व्यये कष्टं, कष्टं प्राप्तस्य रक्षणे, अप्राप्तौतु (देवलकानामिव सृष्ट्यारम्भे नियतया अर्थार्थितया) महत् कष्टं, वित्तं कष्टम् इह उच्यते'' ऐसा अर्थमोहभंग साध पाता है, तब ही प्रभु भी उसके पूर्वजन्ममें अमान्य भजनको भी, आचार्यमार्गीय जीव जान कर दया करते हैं. यह तो रिट्रॉस्पेक्टिव इफेक्टके रूपमें

भी मान्य करते हैं परन्तु किसी भी स्थितिमें उससे पूर्व तो नहीं ही. तब लोकार्थीके भजनके वैयर्थ्य या अवैयर्थ्य का प्रश्न यहां उठ कैसे सकता है ? अन्यथा कंस-पूतना-शिशुपाल आदि असुरोंको भी मारनेके बाद प्रदत्त मुक्तिके वृत्तान्तके आधारपर भगवद्हिंसा या भगवद्द्वेष आदिकी मनोवृत्तिओंको भी शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य करना पड़ेगा.

तब तो बात केवल भगवान्पर ही नहीं परन्तु ''गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म''न्यायेन गुरुहिंसा और गुरुद्वेष को शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य रखना ही पड़ेगा. फिरतो अर्थार्थी भक्तकी तरह हिंसार्थी गालीप्रदानार्थी जीवोंके भी अष्टविध प्रभेद स्वीकारने पड़ेंगे, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्. तब तो **''नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः''**न्यायेन पूर्वजन्मकृत भगवद्हिंसार्थी या द्वेषार्थी के भी भजनोंका वैयर्थ्य निरस्त करना पड़ेगा.

मुझे नहीं लगता कि इस न्यायकी व्याख्यामें पूर्वाचार्योंने जो एकाधिक वर्णक प्रतिपादित माने हैं, उनमेंसे किसी एक वर्णकपर भी अर्थार्थिभक्तोंके विभागकर्ताने, उद्धृत करनेसे पहले, दृष्टिपात किया हो. क्योंकि यदि केवल दृष्टिपात भी किया होता तो पता चलता -

प्रथमवर्णकमें तो स्पष्टतया **''मर्यादामार्गम् आश्रित्य तथा उच्यते नतु पुष्टिभक्तिम्. अतएव 'भक्त'पदं 'सेवा'पदं च विहाय 'जन'पदं 'मान'पदं च उक्तम्''** कहा गया है.

द्वितीयवर्णकमें **''किञ्च भक्तस्य का वार्ता ! भक्तिरहितोऽपि जनो भक्तप्रवर्तितसम्प्रदायस्थितो भूत्वा भगवते यद्यद् मानं विदधीत स्वस्य कर्तव्यत्वेन (नतु अर्थार्थितया) विहितं ज्ञात्वा... तत्र सम्प्रदायानुरोधाद् आत्मने वृणीते... परं भक्तं स्वयं वृणीते, अन्यः स्वतः करोति इति तारतम्यम्. तर्हि भक्तकृतमेव अंगीकरोति इति नियमः कथं सम्भवति ? इति... दृष्टान्तम् आह... मुखस्थानीयो भक्तः प्रतिमुखस्थानीयः तदनुवर्ती... तथा भक्तानुवर्तिकृतं भक्तकृतं नतु तत्कृतं, भक्तानुसारित्वात्''** अतः भक्तोंने

लोकार्थितया भगवत्सेवा न की हो और भक्तानुवर्ती कोई द्विविद अर्थार्थितया भगवत्सेवा करता हो तो उसे भगवान् अंगीकार नहीं करेंगे यह सिद्ध होता है.

तृतीयवर्णकमें भगवान् भक्ताधीन होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं होते प्रत्युत निष्कंचन होते हैं. अतः निष्कंचनजनोंके साथ ही प्रेम करते हैं यह कहा गया है. एतावता अर्थार्थी जनोंके द्वारा की जाती सेवाको अंगीकार ही नहीं करते, यह फलित हो रहा है.

चतुर्थवर्णकमें अभक्तों द्वारा समर्पित अधिक (राजभोग-छप्पनभोग आदिभी) नहीं परन्तु अधिक भक्तोंद्वारा समर्पित अल्पमात्रामें भी पत्र पुष्प फल जल अंगीकार करते हैं, यह कहा गया है. आज तो पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें जनसाधारणसे भेट-सामग्री स्वीकारी जाती है. वह भी यह जाने बिना ही कि दर्शनार्थी जनता स्वसम्प्रदायी है या विसम्प्रदायी, कृष्णभक्त है अन्यान्यदेवोंकी भक्त, भक्तिमार्गीय है भक्तीतरमार्गानुगामी ! ऐसी स्थितिमें उनकी भेटसामग्री पुष्टिप्रभु अंगीकार ही नहीं करते. तो हमारी हवेलियोंके मठड़ी-ोहनथाल आदि और होटल-रेस्टोरांमें चाइनीज़ फुड और मेक्सीकन बर्गर के बीच, जिसे वल्लभकुलके गो.बा.भी अब अरोगने लगे हैं (और ऐसा वे ओरकुटपर अपनी प्रोफाइलमें स्वीकार भी करते हैं) अन्तर क्या रह जाता है ! अतः उसे भगवत्प्रसाद नहीं माना जा सकता. ऐसा विपरीत ही सिद्ध हो जाता है.

पांचवे वर्णकमें यह कहा गया है कि निःस्वार्थी भक्त जब भगवान्को कुछ समर्पित करता है तो प्रभु स्वभावतः अंगीकार करते हैं. स्वार्थवश भजन करनेवाला जब कुछ भगवान्को समर्पित करता है तो करुणा जगनेपर ही. ऐसी स्थितिमें आशंका उठती है कि भगवान्के विशेषानुग्रहके बिना तो निःस्वार्थ भजन कोई कर ही नहीं पायेगा. तब तो भजन करना ही लोग बंद कर देंगे. अतः उसके खुलासा देनेको यह प्रतिपादन किया गया कि पुष्टिमार्गमें निष्काम या निःस्वार्थ भजन किया जाता है. मर्यादामार्गमें मोक्षकामनाके वश भजन किया जाता है. और प्रवाहमार्गमें लौकिक कामना या स्वार्थ के वश भजन किया जाता है. अतः यथाकथञ्चित् सभीको भगवान्की भक्ति तो करनी ही चाहिये. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थीको यथाविवक्षित अर्थमें तो प्रहाहमार्गीय जीव ही मानना पड़ेगा. और उसकी प्रशंसा

भी उसे प्रवाहमार्गसे निवारित कर दैवमार्गके अभिमुख बनानेको ही स्वीकारनी पड़ेगी.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो किस वर्णकमें प्रतिपादित अर्थमें ''नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णः'' न्याय स्वीकारना यह पक्षग्रहणद्वारा स्पष्ट करना पड़ेगा. इतना तो निश्चित ही है कि मर्यादामें मोक्षकामनाके वश भक्ति की जा सकती हो तावता –

''मोक्षार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा, क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं मोक्षो नश्यति सर्वथा''/ ''कामार्तः/हिंसार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं कामो/हिंसा नश्यति सर्वथा''.

ऐसा भी भगवद्गीतोक्त चतुर्विध भजनकर्ताओंको 'सुकृति' कहा गया होनेकी दुहाई देकर कहा जा सकता है क्या ? भजनका ऐसा प्रकार महाप्रभुको अभिप्रेत माना जा सकता है क्या ? क्योंकि चतुर्विध भजनकर्ताओंमें केवल अर्थार्थी ही नहीं आर्त भी स्वीकारा गया है. और कोई जघन्य हो या जघन्यतर जघन्यतम या अतिजघन्यतम ही अधिकारी क्यों न हो अपने अगम्यागमनकी वासनाके वश अथवा अवध्यके वधकी कामनाके वश भजन करता हो तो भजनके ऐसे प्रकारको भी पुष्टिमार्गीय माना जा सकता है या नहीं ? **''कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्''** ऐसोंके भजनको भी क्या धर्म्य ही मान लेना ! और **''फलमतः उपपत्तेः''**न्यायेन उसकी कामना भी भगवान्को पूरी तो करनी ही पड़ेगी या नहीं ? यह खुलके बताना पड़ेगा.

(४)

प्रमुखतया ध्यान देनेकी बात यहां यह है कि जिस जन्ममें भगवत्सेवा कोई लोकार्थी बन कर करता है, वह जन्म तो उसका व्यर्थ ही जाता है. तो ऐसा जानने बावजूद इतने दुर्लभ जीवनमें जघन्यार्थिताके हेतु प्रेरणा या स्वच्छन्दानुसरणकी अनुज्ञा या उपदेश की वक़ालत क्यों करनी ? और जन्मान्तरमें जो पुष्टिप्रभु

पुष्टिमार्गाचार्यके मार्गकी कानी निभानेको उसपर अनुग्रह कर सकते हैं, तो वह तो भगवद्द्वेषी असुरोंपर भी कर ही सकते हैं. एतावता स्वयं जघन्यताका अनुमोदन करके जनताके द्रव्यको हड़पने अपनी भगवत्सेवाके नामपर चलती पेढ़ीमें समाधानी और रसीद का सरंजाम करके जनताको ललचाना क्यों ? लोकार्थीके इस जन्ममें लौकिकस्वास्थ्यको और जन्मान्तरमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भगवान् अपना अनुग्रह प्रदान करते हों तो इसी जन्ममें लोकार्थिताका अनुमोदन क्यों करना ? क्योंकि प्रभु भी तो अन्तमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भक्तिमार्गीय अनुग्रह करेंगे, सो भी जन्मान्तरमें ही उसे स्वगामितया सफल बनायेंगे. सो यह जन्म तो निरर्थक गया ! यह जानते हुवे भी क्षुद्रस्वार्थके वश एतज्जन्मकृत सेवाको अभगवद्गामी क्यों बनने देना ? जबकि अनिषिद्ध लौकिक कामनाकी अनिषिद्ध लौकिक उपायोंसे पूर्तिपर भक्तिमार्गमें कोई प्रतिबन्ध तो लगाया नहीं गया है. अतः इस जन्ममें भगवद्गामी न हो पानेवाली सेवाकी जानबूझ कर वक़ालत कर भगवत्सेवाके अपने निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारके आच्छादनार्थ यह कपटनाटककों करना ? अतः यह बात तो हमारे द्विविदोंकी उघाड़ी पड़ी देवलकताका प्रमाण बन जाती है.

अतएव चर्चासभामें जब सेवाके प्रयोजनके बारेमें जिज्ञासा प्रकट की तो द्विविदमतिके अनुरूप प्रस्तुत अर्थार्थिप्रभेदोंके विभागकारने लिखवाया था कि पुष्टिसिद्धान्तमें अधिकारिभेदवश भक्तीतर लौकिक प्रयोजन भी सिद्धान्ताभिमत है. जब पूछा ''सेवास्थल कौन सा ?'' तो कहा ''सेवाकर्तृस्वामिक होना चाहिये''. अब यह जैसे गोस्वामिद्विविदोंपर लागू होगा वैसे ही वैष्णवोंपर भी लागू किया जाये तो गो.बा.ओंकी हवेलिओंमें देवलकोंद्वारा बरगलाये गये वैष्णव जो कुछ कर रहे हैं, चाहे तनुजा या वित्तजा, उसे वहां उनका स्वामित्व न माननेपर भगवत्सेवातया अमान्य ही रखना पड़ेगा. इसके विपरीत स्वयंके घरोंमें जो वैष्णव भगवत्सेवा करते हैं वही सिद्धान्ताभिमत प्रकारतया सेवाके रूपमें ही मान्य करनी पड़ेगी.

विस्तृतविवरण (पृ.१६०–१६७); या विश्वास न हो तो पक्षग्रहणकी प्रकाशित वीडियो देख कर भी, निश्चित किया जा सकता है कि अपनी द्विविदमतिके अनुरूप केवल सात पृष्ठोंमें सीमित चर्चामें भी सेवासे अपनी आजीविका उपार्जित करनेवालेको पहले जघन्यकोटिका माना. बादमें प्रश्न करनेपर कि वह सिद्धान्ताभिमत जघन्याधिकार है या सिद्धान्तानभिमत

जघन्याधिकार है ? दूसरे शब्दोंमें जघन्याधिकारी जो सेवाद्वारा अपनी आजीविका कमाता है वह सिद्धान्तशुद्ध सेवाका अनुकल्प है, विकल्प है; या प्रतिकूलकल्प है ? तो उसमें सोचे-समझे बिना **''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं''** वचनकी पेच डालनेकी कोशिश की. जब आजीविकोपार्जकके रूपमें लोकार्थीको खपाया जा सकता है या नहीं ? यह पूछा तो पूरा ग्रन्थांश सब सुनें इस तरह पढ़ कर सुनाने लगे. जब पढ़ते-पढ़ते अपनी त्रुटिका पता चला तो शाखाचंक्रमण करके स्वीकार भी लिया कि तीन वर्षोंकी अवधिके बीचमें तो नहीं परन्तु तीन वर्षोंकी अवधि पूर्ण होनेके बाद **''पैसेकेलिये या पैसाका अर्थी बन कर सेवा करता है तब उसमें देवलकत्व आता है''** (विस्तृ.विव.पृ.१६५).

ऐसी स्थितिमें अपनी हवेलीको **''श्रीवल्लभसम्प्रदायकी सेवाप्रणालीके अनुसार श्रीठाकुरजीकी सेवाप्रणाली चालु रखनेको''** (सी.पी.आर.नं.१३९के पृ.२) ट्रस्ट घोषित करनेकी जो चेरीटी-कमिश्नरकी ऑफिसमें एप्लिकेशन दी, उसके (पृ.४) पर तीस टका आमदनीमें से मेहनताना पानेका अधिकार भी स्वीकारा गया होनेसे, और वह न जाने कितने वर्षोंसे अपनाये रखा होनेके कारण स्वयंस्वीकृत पक्षके अनुसार निषिद्धकोटिकी जघन्य देवलकता स्वयंमें सिद्ध होगी कि नहीं ?

अब पुनः स्वयंके भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थी होनेकी शाखापर चंक्रमण कर उत्तम पुष्टिभक्त होनेकी बात सोलह वर्षोंके बाद सूझी है. इस कुशकाशावलम्बनमें तनुजा वित्तजा और मानसी सेवाके त्रैविध्यको आधार बनाया जा रहा है. पहले, परन्तु, कहा था **''यद्यपि यहां वार्तादिके प्रमाणका विषय नहीं है''** (विस्तृ.विव.१७८) पर अब नूतनशाखाचंक्रमणमें गदाधरदासकी वार्ता प्रमाणतया प्रस्तुत हो गयी है :

''गदाधरदासजीकी ही तरह स्वभगवदर्थ तनुजा-वित्तजा सेवानिर्वाह शास्त्रसम्मत यदृच्छालाभसन्तोषवृत्तिसे यथाशक्ति करते हैं, लाभपूजार्थयत्न करके नहीं... यह हमारा सगर्व डिण्डिमघोष है... लोग प्रभुको पूजते हैं हमको नहीं... उलटा भगवत्-शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरणन्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ... अतः लाभपूजाका प्रश्न ही नहीं उठता... वैष्णवोंकी वित्तजाका विनियोग हम श्रीमत्प्रभुचरणोक्त-श्रीपुरुषोत्तमचरणोक्त

भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग-नोरथादिमें लगाते हैं. अतः हमारे अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती'' ('गदापदातत' पृ.२३-२४).

अब यह आनन्द देखने लायक है :

गो.हरिराय : ''साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते'... फलके साथ भी 'रूप'पद जुड़ा हुवा है और साधनके साथ भी... इसके नीचे सीधा 'उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः'. प्रभुचरण साधनके साथ यहां जो पहले जोड़ा गया 'रूप'पद है उसको हटा रहे हैं... केवल 'साधन'पद है. अर्थात् साधनत्वस्वीकारः इति. द्विवचन स्पष्ट है 'उक्तसेवासाधने इतरे'... अर्थात् साधनत्वेन सेवे द्वे... क्योंकि ये जो 'तनुवित्तजा'पद है वो 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वाद्' ये हेतु आगे है. मैं भूल गया हुं...

गो.श्या.म. : प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते.

गो.हरिराय : है न वो वचन ! थोड़ासा भूल गया !... तब वो साधन तो जरूर हैं परन्तु साधनरूप नहीं हैं... 'एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'... जिनका साधनत्व स्वीकार किया गया है... जो साधन ही हैं साधनरूपा नहीं हैं. साधन ही हैं केवल. वो 'तत्साधिके' द्विवचन अर्थात् मानसी सेवाकी साधिके; दोनों अलग-अलग चल रही हैं... क्योंकि साधकत्व और साधनत्व-दोनोंमें भेद है... अर्थात् साधकत्वं निषिद्धं नतु साधनत्वं... 'एतादृश्यौ' अर्थात् केवल साधनरूपमें (इतनेमें ही देखा जा सकता है कि साधन और साधनरूप के बीच प्रस्तावित अन्तरको यहीं छोड़ दिया गया है !) की गयी ये सेवायें 'तत्साधिके न'=मानसीकी फलकी साधिका हो नहीं सकती. परन्तु जब उनको तनुवित्तजा=दोनों मिला कर की जाती हैं, तब उसका एक रूप बनता है साधनरूपम्. साधनरूपा होते ही वो मानसीकी साधिका बन जाती है. 'एतेन'=इससे ये बात हुयी... क्योंकि स्पष्ट कहा कि, भइ ! जब दोनों अलग-अलग जो हो जाती हैं, बिचारी केवल साधनमात्र रह जाती है. इसीलिये इनमें साधकत्व तो आ नहीं पाता. इसलिये साधकत्व जिनमें आता है वो 'एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति' ये आगे इसलिये बताया... 'न कार्यम्'का

निषेध भी जिसको मानसी सेवा करनी है, अर्थात् जो उत्तमकोटिका अधिकारी है, मानसी जो फलरूपा सेवा है वो जिसको सिद्ध होनी है, भगवदिच्छासे, अधिकारी तो भगवदिच्छासे निश्चित होते हैं, तो जो भगवदिच्छासे उत्तमकोटिका अधिकारी है, जिसको मानसी सिद्ध होनी निश्चित ही है, प्रभुके व्युच्चरणसे ही कि 'ये मेरा भक्त है, इसे मानसी सिद्ध होगी'... जो 'न कार्यम्' ये निषेध जो है वो उत्तम अधिकारीकेलिये है. ऐसा मैं इसलिये कह रहा हुं कि यदि ऐसा नहीं होता तो आगे 'एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति...' उसमें साधन जो मानसीकेलिये करना है उसको भी साथमें मध्यपातीन्यायसे अवान्तरफल तो होता ही है... परन्तु जो अलग-अलग करते हैं, जोकि उत्तम अधिकारी नहीं है, मन्दमध्यम हैं, उनको वे अलग-अलग करते हैं तो उनको अवान्तरफल मिलते हैं... 'न' जो है वो मानसीके उत्तम अधिकारी, मतलब उत्तमाधिकारिभिः तथा न कार्यं यथा व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति... इसीलिये कहा है कि उसको कुछ पता नहीं होता कि इन दोनोंको साथ ही करना चाहिये, इसी तरहसे करना चाहिये तब वो सिद्ध हो, ऐसा तो उसको पता नहीं होता. वो तो दोनोंमें से कुछ भी या कहीं भी किसी भी तरहसे कर लेता है जैसे एक बालक'' (विस्तृ.विव.२०२-२१०)

चर्चाके समय मानों होश ही नहीं था कि तनुजा और वित्तजा सेवाके द्वित्वकी वक़ालतमें सृष्टिके आरम्भसे भगवन्निर्धारित मन्दमध्यम जघन्य अज्ञानी होनेकी स्वीकृति भरी सभामें की जा रही थी. मैं इस बातको सोच-सोच कर हंस रहा था. सो यह और बोल गये कि **''आप हंस रहे हैं वो इसलिये के उक्तप्रकारमें तो दोनों आयेंगी. आप ये मान रहे हैं लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता''** (विस्तृ.विव.२०९).

जब इस आत्मजाघन्यपर ध्यान आकृष्ट किया तो अन्य कोई आत्मत्राणोपाय वित्तैषणावश दिखलायी देता न होनेसे नूतनशाखा **''[१]मानसीके साधन दो हैं तनुजा और वित्तजा 'तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः' अर्थात् [२]एक व्यक्तिद्वारा की गयी दोनों सेवा तनुजा-वित्तजा ही मानसीकी साधक होती हैं. क्योंकि 'वित्तं दत्वा... एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्' अर्थात् [३]वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की गई ऐसी तनुजा-वित्तजा सेवायें मानसीकी साधक नहीं होती... इससे यह सिद्ध हुवा कि [४]तनुजा-वित्तजा दो सेवाओंकी एककर्तृकतावच्छेदेन योगावस्था ही तनुवित्तजा है. [५]अलगसे एक सेवा नहीं... अतएव एककर्तृकतावच्छेदेन संयुक्तावस्था ही तनुवित्तजा बनती थी, जो मानसीकी साधिका है. [६]रामकृष्णदासवत् विभागासह 'तनुवित्तजा' नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है. अर्थात् [७]श्रीमदाचार्यचरणोक्त 'तनुवित्तजा' समस्तपद एककर्तृकताभिप्रायिक है, एकसेवाभिप्रायिक नहीं. यही सिद्धान्त है''** ('गदापदातत'पृ.१४-१५).

इन गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिके बुद्धिके चमत्कारोंके बारेमें, वार्तासाहित्यकी शैलीमें कहना तो, इनके अर्थैषणाकी दुरवस्थाकी वार्ता कहां तांई कहिये!

[१]सिद्धान्तचर्चाके समय पृथक्-पृथक् तनुजा और वित्तजा सृष्ट्यारम्भके समय भगवन्निर्धारित मन्दमध्यमाधिकार या क्षम्यजघन्यता थी. अब वेही दोनों सेवायें सिद्धान्ततः मानसी सेवाकी साधिका मानी जा रही हैं. क्या ये चर्चासभामें बुद्धिपूर्वक हों डाल रखे पेच थे या दिङ्मूढ़तावश? यदि बुद्धिपूर्वक हों तो छोड़नेकी क्या आवश्यकता? यदि दिङ्मूढ़तावश तो अपनेको कोसना चाहिये, अन्य किसीपर बलात्कारके आरोप या पुनःशास्त्रार्थ हेतु ललकारनेके. [२]जिस **''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते''** व्याख्योदाहृत वचनपर सारी तागड़धिन्ना चल रही है, वह वचन भी मैंने याद दिलाया तब पूर्णतया सभामें उद्धृत हो पाया. खैर विस्मृति इतनी आपत्तिजनक कथा नहीं जितनी यह कि सिद्धान्तचर्चामें तनुवित्तजा एककर्तृका एकाकिनी मानसीकी साधिका थी परन्तु अब वह सिद्धान्ततः अशक्य घोषित कर दी गयी है. यह वैदुष्य सिद्धान्तचर्चाके समय कहां गया था? [३.४.५]अब अपने दुरदृष्टवशात् पुनः यह और पक्षग्रहण कर लिया गया है कि ''वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की जाती तनुवित्तजा मानसीकी साधक नहीं होती'' तो अपने घरको 'श्रीपुष्टिसंप्रदाय... मोटी हवेली ट्रस्ट'के, तथाकथित आम्बेडकरस्मृतिके अनुसार, सार्वजनिक ट्रस्टके आवेदन (सी.पी.आर.नं.१४०, तदनुसार ए/३१७/जाम.) में घोषित सार्वजनिक

ट्रस्टमें उसकी आयके तीस प्रतिशत राशी स्वयंके हेतु वेतनतया स्वयंने क्यों मान्य रख्खी ? तदनुसार गदाधरदासजीके सेव्यप्रभुकी की जाती सेवा मानसीकी साधिका सिद्ध नहीं हो पायेगी. वैसे इसमें भी किसे आपत्ति हो सकती है ! क्योंकि सिद्धान्तचर्चासभामें अंगीकृत पक्षके अनुसार इन द्विविदमतिवालोंको भगवान्ने जघन्य देवलक ही बनाना निर्धारित कर रखा हो तो भगवदिच्छा तो बलीयसी ही होती है न. अतः उसका तो बाध भी सम्भव नहीं ! पर अब उस भगवदिच्छाका अनादर करके क्यों स्वयंको भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया उत्तमकोटिके रूपमें बिरदाया जा रहा है ? ऐसी स्थितिमें विशेषतः दर्शनार्थियोंके द्वारा की जाती वित्तजा सेवा और मुखिया-भीतरियाआदि वेतनिक कर्मचारियोंद्वारा सम्पन्न करवायी जाती तनुजा सेवा मानसीकी साधिका कैसे मानी जा सकती है ! इसके विपरीत सहज सम्भव है कि द्विविदोंके दुःसंगसे जिन वैष्णवोंकी मति भ्रष्ट न हुयी होगी ऐसे, अनेक वैष्णव अपने घरोंमें मानसीकी साधिका एककर्तृका तनुवित्तजा कर ही रहे होंगे. सो उनसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अपने परिवारोंको दिलवानी चाहिये बजाय कि उन्हें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेके स्वयंके मिथ्या एकाधिकारके दावे करनेके !

[६]रही बात 'रामकृष्णदास'पदमें विभागासह द्वन्द्वसमासकी और 'तनुवित्तजा'पदमें विभाजनसह द्वन्द्वसमासकी. इसे हम चर्चासभामें गृहीतपक्षकी अभिप्रेत उपपत्तिके निरूपणके आधारपर भी जांच सकते हैं **''तनुजा और वित्तजा मध्यमपदलोपी है... अब इस झंझटको तो व्याकरणकी तो अभी क्या करें !''** (विस्तृ.विव.पृ.२०४). अब भला कोई प्रथमाका भी विद्यार्थी इन द्विविदोंसे पूछे तो सही कि द्वन्द्वसमासके उपभेदोंमें मध्यमपदलोपी समास आता है क्या ? मध्यमपदलोपीके उदाहरण माने जाते ''शाकप्रियः पार्थिवः=शाकपार्थिवः'' समस्तपदकी तरह यदि ''तनुजा वित्तजा=तनुवित्तजा'' समस्तपद भी हो तो जिस ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणता''के हेतुके वश 'तनुवित्तजा'पदको विभागसहिष्णु मान लिया, वही 'तनुवित्तजा'पद पुनः 'रामकृष्णदास'पदकी तरह विभागासहिष्णु सिद्ध हो जायेगा ! ये कैसा पेच था ?

[७]अब कहा जा रहा है कि 'तनुवित्तजा' पद एककर्तृकताभिप्रायक है एकसेवाभिप्रायक नहीं तो ऐसी स्थितिमें 'गदापदातत'के पृष्ठावरकपर जो श्रीद्वारकेशजीका वचन **''तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च. तत्सिद्धौ 'ते'इति... उभे मानसीसेवार्थके दैवी सेवा कर्त्री, द्वितीया तद्रूपज्ञापिका''**

उद्धृत किया, उसमें ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च'' वाक्यांशमें 'च'कार [१]निरर्थक है ? [२]विकल्पार्थक है ? [३]अवधारणार्थक है [४]समुच्चयार्थक है ? [५]इतरेतरयोगार्थक है ? [६]समाहारार्थक है ? अथवा [७]अन्वाचयार्थक है ?

यदि [१]निरर्थक मानते हो तो वह, 'च'कारकी अर्थावगतिमें अक्षमताके वशात् या ग्रन्थकारद्वारा व्यर्थप्रयोग किये गये होनेके कारण ? प्रथम

कल्प तो औसतन बुद्धिवाला कोई भी मान्य रखेगा ही ! दूसरे कल्पमें 'च'कारको जैसे व्यर्थ शब्दका प्रयोग माना वैसे ही ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च'' सम्पूर्ण शब्दावली भी निरर्थक क्यों नहीं हो सकती ?

[२]विकल्पार्थक मानते हैं तो विकल्पघटक प्रथमकल्परूप 'तनुवित्तजा'के बिना द्वितीय 'एककर्तृका तनुजा-वित्तजा'का कल्प स्वयं असिद्ध हो जायेगा. विकल्पकी उपपत्तिके हेतु 'तनुजा-वित्तजा'की विशेष अवस्थाके रूपमें द्वित्वको खोजने जायेंगे तो एक ही विभाजनकारकी सिद्धान्तचर्चासभामें सहभागी बननेकी अवस्था और 'गदापदातत'लेखनकार बननेकी दो अवस्थाओंके बीच भी भेदवश विकल्प स्वीकारना पड़ेगा. और उन दोनोंके बीच मतभेद स्पष्ट होनेपर 'सुन्दोपसुन्द'न्यायेन दोनोंको स्वतोनिरस्त मानना पड़ेगा ! किसी भी तरहकी नूतनशास्त्रचर्चाकी अपेक्षाके बिना !

[३]अवधारणार्थक मानते हौ तो वह भी, अपनी क्षुद्रमतिके वश 'तनुवित्तजा'को 'तनुजा और वित्तजा' की योगावस्था मान रखी होनेके कारण, तद-(=तनुवित्तजाऽ)भावाप्रकारक तत्-(=तनुजा-वित्तजा)प्रकारक ज्ञान न हो पानेके कारण अनुपपन्न हो जायेगा.

[४]समुच्चयार्थक माननेपर तो **''[६]रामकृष्णदासवत् विभागासह 'तनुवित्तजा' नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है''** ऐसा पक्ष स्वतो अभ्युपगत होनेसे समुच्चेयके अभावमें समुच्चय ही अनुपपन्न हो जायेगा. यदि **''दोनों पैरोंको बारी-बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली-जुली**

एक मुद्रा बनती है, जिसे लोग 'गति' या 'चलना' कहते हैं'' ('गदापदातत'पृ.१६) इस विधानके तर्ज़पर तनुजाको समुच्चेय मान कर उसके साथ वित्तजाके समुच्चयार्थ 'च'कार मानोगे तो भी समुच्चय(=निरपेक्षाणाम् एकत्र अन्वयः) निरस्त हो जायेगा. क्योंकि चलन या नमन क्रियाओंमें इतरेतरसापेक्ष दो चरण या दो करों की तरह ही इतरेतरसापेक्ष होनेसे तनुजा और वित्तजा का समुच्चय पुनः बाधित हो जायेगा.

अतः [५/६]इतरेतरयोगार्थक या समाहारार्थक 'च'कारको माननेपर तो 'तनुवित्तजा'पदके ही साथ ''तनुजा और वित्तजा''पदोंका योग या समाहार स्वीकारना पड़ेगा. सो पुनः तनुवित्तजा अकामगले पतित होगी! स्ववृत्तिवादप्रकाशिकामें विवेचित द्वन्द्वसमासके अर्थ, यदि द्विविदोंकी बुद्धिसे गम्य होते 'गदापदातत'सदृश प्रकाशन ही असम्भव हो जाता.

''द्वन्द्वान्ते... अभिसम्बध्यते'' गुब्बारेका सूचिकाविस्फोटन :

अतः अब रह जाती है 'च'कारको [७]अन्वाचयार्थक स्वीकारनेकी कथा. उस सन्दर्भमें यह अवधेय है : अन्वाचय तो सर्वदा उद्देश्यसिद्धिके बाद अनुद्देश्यसिद्ध्यर्थ अनुज्ञारूप ही होता है.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो **''चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''**रूप आचार्योपदेशमें न तो तनुजा और न वित्तजा ही उद्दिष्टतया या उपदिष्टतया सिद्ध होंगी. अर्थात् ये दोनों सेवायें उद्देश्यीभूत या उपदेश्यीभूत तनुवित्तजाकी अंगभूता ऐसी अवान्तरक्रिया सिद्ध होंगी. अतः अंगी तनुवित्तजा क्रियाकी स्वरूपान्तःपातिनी होनेके रूपमें ही अपना स्वरूपलाभ कर पायेंगी, स्वतन्त्रतया नहीं. क्योंकि प्रधानान्तःपाती अंगोंको 'अवान्तर' कहा जाता है. अतः कैमुतिकन्यायेन प्रधानांगी तनुवित्तजा क्रियाके प्रधानफल, चित्तकी ऐसी भगवत्प्रवणता कि सेवाकर्ताको सेव्य या सेवा की मानसी होने लग जाये, ऐसे प्रधानफलके स्वरूपमें अन्तःपाती दो अंगभूत अवान्तरफलों, संसारदुःखनिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान, की जनिका जो बन पाती हैं, वह भी बन नहीं पायेंगी.

जैसे उपविष्ट पुरुषको ''बहिः गच्छ!'' उपदेशमें अनुपदिष्ट, उत्थान एवं सव्येतर चरणसंचालन, अनुद्देश्य या अनुपदेश्य होनेपर भी, अवान्तरक्रियात्वेन अर्थापत्तिद्वारा अवगत होते हैं. पदकी अभिधावृत्तिके द्वारा अनन्यलभ्य शब्दार्थतया नहीं. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंके जैसा ही कोई अपठित व्यक्ति इनके बारेमें विधिभारकी कल्पना कर सकता है. अथवा द्विविदमुकुटमणि तो उत्थान और सव्येतरचरणसंचालनके बिना बहिर्गमन अनुपपन्न होनेसे ''बहिः गच्छ'' आदेशका मूल अभिप्राय बाहर निकले बिना, वहीं सव्येतरचरणोंके आगे-पीछे हिलाना-डुलाना मान कर मध्यस्थ-विद्वानोंके बीचमें मौखिक शास्त्रार्थ करनेका आव्हान भी दे सकता है! अथवा, उदाहरणतया, **''पुरोडाशं पर्यग्निं करोति''** विधिमें कोई अग्क्याधान या अग्निप्रज्वालन के विधानकी कुकल्पना भी कर सकता है!

अतएव अवान्तरक्रियाद्वयीके अन्वाचयनार्थ श्रीद्वारकेशजीने संसारदुःखनिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान रूपी अवान्तरफलोंकी साधिका होना समझाना चाहा है. न कि अनुद्दिष्ट या अनुपदिष्ट ऐसी तनुजा एवं वित्तजा क्रियाओंकी उपदिष्टता सिद्ध करनेको. क्योंकि वह तो अंगी तनुवित्तजा क्रियाके स्वरूपान्तःपातिनी हैं. इनका, चाहे अवस्थान्तरतया या साधनान्तरतया, 'तनुवित्तजा'से बहिर्भावन करनेपर इनकी अवान्तररूपता ही निरस्त हो जायेगी. अतः अवान्तरफलप्रदता भी निरस्त होगी ही. तब इनसे न तो मुख्यफल और न अवान्तरफल ही मिल पायेगा, अतः भगवत्सेवाके सन्दर्भमें इन्हें निष्फल या अजागलस्तनकी निरर्थक ही माननी पड़ेगी. फिरभी 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्' कोई देवलक इनके फलतया उदरपूर्ति परिवारनिर्वाह या भजनकर्तृतया यशोलाभ आदिसे सन्तुष्ट हो तो वह तो प्रावाहिकी भक्तिकी कथा है! इस विषयमें किसी शास्त्रार्थ या चर्चा की आवश्यकता ही नहीं. व्याकरणशास्त्रके या न्यायशास्त्रके प्रथमा/मध्यमाकी परीक्षामें बैठनेवाले विद्यार्थीकी भी गुरुत्वेन उपासना करके इसे समझा जा सकता है!

ऐसे अर्थलोलुप देवलक स्वयं आचार्यचरणके कुलमें जनमेंगे ऐसा श्रीद्वारकेशजीको अन्देशा भी होता तो आचार्यचरणानुद्दिष्ट अर्थात् आचार्यचरणानुपदिष्ट तनुजा-वित्तजा क्रियाओंका अंगी तनुवित्तजा क्रियामें अवान्तरभाव या अंगभाव कदापि न समझाते. ''प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः!'' क्योंकि

प्रभुचरणने तो खुलासा दे ही रख्खा था कि **''भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि ते अनभिलषिते तथापि वस्तुस्वभावाद् भवतः''** .

अतएव *तीसप्रतिशत अर्थलाभग्रहणार्थी* विषयसुखार्थी उदरभरणार्थी निजपूजायशोलाभाद्यर्थी गोस्वामिद्विविदोंका तो चित्त भगवदितर विषयोंमें ही अभिनिविष्ट होता है. जिन अदेवलक भजनकर्ताओंका चित्त, परन्तु, भगवत्सेवामें अभिनिविष्ट होता है, उन्हें तो तनुजा या वित्तजा का विभाजन कदापि अभिलषित नहीं हो सकता. इसीलिये भगवत्सेवाको अपनी आजीविकाके उपार्जनका उपाय न बनानेवाले अजघन्यकोटिके न जाने कितने पुष्टिमार्गीय वैष्णव अपने-अपने घरोंमें अर्थार्थी न होनेके कारण तनुवित्तजा ही करते हैं! यह अमृतवचनावलीमें संकलित पूर्वजोंके वचन तथा पूर्वस्वीकृत स्वयंके गृहीतपक्षके आधारपर भी सिद्ध है ही.

अवधेय है कि आचार्योपदिष्ट **''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** (सिद्धा.मुक्ता.१-२) मूलकारिका तो विधिमुखेन कृष्णसेवाकी कर्तव्यता प्रतिपादित कर रही है. फिरभी चर्चासभामें कहा गया कि मन्दमध्यमाधिकारीको तनुवित्तजा करनेका निषेध यहां अभिप्रेत है. इसे ''तुष्यतु दुर्जनः''न्यायेन स्वीकार कर भी चलें, जो आधुनिक पुष्टिमार्गकी एक दुःखद वास्तविकता भी है!, फिरभी पूछा तो जा ही सकता है कि यदि कोई तनुवित्तजा नहीं करता तो वह जघन्य सिद्ध हो गया कि नहीं, बिना शास्त्रार्थके ?

अतएव नूतनशाखाचंक्रमणमें तनुवित्तजाको केवल एक अवस्था मान ली गयी है. और एककर्तृका तनुजा और वित्तजा को सिद्धान्ततः सच्ची सेवा. सर्वाधिक हास्यास्पद विधान तो यह और कर दिया :

''दोनों पैरोंको बारी-बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली-जुली एक मुद्रा बनती है, जिसको लोग गति या चलना कहते हैं, एक पैर नहीं कहते... तेजगतिसे चलते हुवे दो पैरोंके ठीकसे

दिखाई न पड़नेके कारण एक पैर समझ कर तीसरा एक पैर यानि टांग कहते हैं! जैसे एकसेवा तनुवित्तजा'' ('गदापदातत''पृ.१६).

अब इस मुद्देपर भी कोई सदा दृढ़ ही रहे, तो यहां भी पूछा जा सकता है कि तो फिर ऐसे झांसेकी आवश्यकता ही क्या कि **''वैष्णवोंकी वित्तजाद्वारा हम अधिक राजभोग-नोरथादि करते हैं - खुद उसका प्रसाद लेते हैं कि नहीं इस बारेमें देवलकजनोचित मौन साध कर - एतावता हमारेमें अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती!''** ('गदापदातत'पृ.२३-२४). यह न्यूनता भला आ कहांसे सकती है, यदि एककर्तृका तनुजा और वित्तजा विभक्त सेवा ही शुद्ध पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो!

अचिकित्स्य अर्थैषणाक्ष्य न हो तो, विद्वानोंकी बात जाने दो, एक अनपढ़ गंवार भी इतनी बात तो सुखेन समझ पायेगा कि दो पैरोंके सहारे सम्पन्न की जाती चलनेकी क्रियामें दो पैरोंसे अधिक तीसरे एक पैरकी नहीं परन्तु चलनेकी क्रियाका एक ही होना प्रकट होता है. इस एक क्रियाका अस्वीकार कर एक वामचरणजा क्रिया और दूसरी दक्षिणचरणजा यों दो क्रियाओंकी तरह एक तनुजा सेवा और दूसरी वित्तजा सेवा की भ्रमणा या महामोह तो द्विविदोंको अपने मतिभेदनवशात् ही हो सकता है. गर्दभादि पशु भी दूर खड़े-खड़े कोई एकचरणको हिलाता-डुलाता रहे और अपने पास न आता हो तो अकारण भीतिग्रस्त होते नहीं. और दोनों चरणोंके सञ्चालनवश अपनी और बढ़नेवाले बलात्कारीको देख कर तो भाग खड़े होते हैं! परन्तु सिद्धान्तचर्चासभामें पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें पुच्छेन निबद्ध या निगृहीत हो जानेके कारण अब शुतुरमुर्गी मानसिकताके वश एक क्रियाकी अंगभूता दो अवान्तरक्रियाओंका दर्शनमोह आत्मत्राणकी अन्तिम भ्रमणा प्रतीत हो रही है!

अब इसपर ध्यान आकृष्ट करनेपर पुनः वही बेतुकी बात दोहरायी जानी निश्चित है कि मध्यस्थविद्वानोंके समक्ष मौखिक शास्त्रार्थमें इन सारी बातोंका खुलासा मुखध्वंसद्वारा कर दिया जायेगा! ख्रों-ख्रों ख्राऊं-ख्राऊं किर्र्र्र्ऽऽऽक्रिच्च्!

(५)

द्विविदोंकी मतिका वैपरीत्य ही कुछ ऐसा होता है : द्रौपदीको पांच पति थे. अतः एक पतिके व्रतको अव्यभिचारसे निभानेका नियम तो तभी निरस्त हो

गया, जब भगवान्ने अपनी भगिनीको पांच पतिओंकी पत्नी बनने दिया. ऐसे ही श्रीनाथजीके देवालयकी स्वीकृतिके समय ही पुष्टिमार्गमें जनसाधारणको भगवद्दर्शन करा कर भगवत्सेवार्थ द्रव्यादिके विनियोगद्वारा अस्वीय वित्तसे वित्तजा सेवाकी अनुमति मान लेनी चाहिये. अतएव गदाधरदासजीने भी अपुष्टिमार्गीय बनजारेके द्रव्यसे स्वसेव्यप्रभुको जब भोग धरा और सभीको प्रसाद लिवाया तब एककर्तृका तनुजा-वित्तजा ऐसी दो सेवाओंका सिद्धान्त स्पष्ट हो गया.

ऐसे सारे अन्यथा अभिप्रायमें परपत्नीको ललचानेके या परद्रव्य ऐंठनेके सिद्धान्तोंके संरक्षणकी शिरोमणिता तो अवश्य मानी जा सकती है. इसके सचाईकी परीक्षा तो, परन्तु, गदाधरदासजीकी वार्ताके आधारपर नहीं हो पाती. वह तो कृष्णदासजीकी (८४।७५) वार्ताके आधारपर ही जांची जा सकती है!

कृष्णदासजीकी वार्तामें आता है कि उनके घरमें अतिथि बन कर वैष्णवोंके अकस्मात् आ जानेपर स्वसेव्यप्रभुको भोग धराकर भगवत्प्रसाद लिवानेको घरमें सामग्री नहीं थी. तब उनकी पत्नी अपनेपर कुदृष्टि रखनेवाले धान्यविक्रेता बनियाको रातको आ जायेगी ऐसा वादा करके अनाज ले आयी. स्वसेव्य प्रभुको भोग धर कर वैष्णवोंको भगवत्प्रसाद भी लिवा दिया. बादमें अपनी पत्नीद्वारा दिये गये वादेकी जानकारी मिलनेपर कृष्णदास स्वयं उसे सजाधजा कर अपने कंधेपर बैठा कर कामुक बनियाके घर पहुंचा आये! एतावता भगवत्सेवार्थ अपनी पत्नीको परपुरुषके पास सजाधजा कर रातको पहुंचानेकी रीतिको स्वसेव्यप्रभुके सुखार्थ अपनी पुष्टिमार्गीय सेवाका सिद्धान्ताभिमत प्रकार घोषित किया जा सकता है क्या? जैसे बनजारेके अस्वीय द्रव्यसे गदाधरदासजीने निःसंकोच स्वसेव्य प्रभुको भोग धरके वैष्णवोंको प्रसाद लिवाया, वैसे ही कृष्णदासजीने भी तो भगवत्सेवार्थ अपनी भार्याको परपुरुषके उपभोगार्थ रात्रिको चुपचाप उसके घर पहुंचाया था. उस कामुक बनियेके अस्वीय वित्तसे भोग धरके वैष्णवोंको प्रसाद भी लिवाया था. अतः भगवत्सेवाके अन्तर्गत कामुकोंको अपनी पत्नी उपभोगार्थ प्रदान कर उन कामुक धनिकोंके द्रव्यसे भी भगवत्सुखका अधिक राजभोग-नोरथादिका भाव रखके सेवा करनेका सिद्धान्त तभी प्रस्थापित हो गया क्यों नहीं मान लेते?

गामको बेवकूफ बनानेको सारे विवादका केन्द्र केवल [१]एककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा तथा दूसरे [२]श्रीनाथजीके सेवाप्रकार को बनाया जाता है! इस बारेमें सारी वास्तविकता जबकि स्वयं महाप्रभुने-

[१]**''भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्... सन्मार्गोपार्जितं न अन्येषां भागरूपं... तेनैव चित्तनिर्वृतिः इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्'' (त.दी.नि.प्र.२।२३६).**

[२]**तब पूरनमलने दंडौत करि विनती करी जो 'महाराज! मोकों सेवक करिये और श्रीनाथजी मन्दिर संवरायवेकी आज्ञा करी है, सो आपु आज्ञा देउ तो मैं संवराउं''. तब श्रीआचार्यजी पूरनमलकों नामनिवेदन कराय कहे 'आगरेतें कारीगर बुलावो'. सो पूरनमलने कारीगर बुलाये. तब श्रीआचार्यजी वासों कहे 'मन्दिरको नकसा करि ल्यावो'... तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे 'हमारे ठाकुरको मन्दिर सिखरबंद धुजा-कलसको नाहीं. नंदरायजीके घरकी नांई करो'... जब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबंद धुजा-कलस चक्र ह्वै गयो. तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. *सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है* (८४ वै.वा.२३।१).**

इसे सेवासम्बन्धी औत्सर्गिक सिद्धान्तका अपवाद न मानें तो **''तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो 'हमहू कौन जीवको बिगार करें? जो अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो... सो जाकों गिरनो होयगो सो आपुही आवेगो''** (८४ वै.वा.८४।१०) अतः श्रीगोवर्धननाथजीके परमभगत बन बैठे इन देवलकोंको या तो साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीके ही मुखारविन्दकी आज्ञाको अप्रमाण घोषित करनी पड़ेगी. अन्यथा प्रभुचरणने जैसे कहा **''अधिकारी बिना काम चलेगो नहीं... हम कौनसे जीवको बिगार करें!''** (८४वै.वा.८४।१०) तदनुसार श्रीगोवर्धननाथजीके सेवाप्रकारको अपवाद या अपसिद्धान्त में से एक कुछ तो मानना ही पड़ेगा. क्योंकि अन्यत्र अधिकारीके बिना चल भी जाता हो पर यहां अनुष्ठेय सेवाप्रकारमें **''नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति''** (भग.गीता.६।४०) भगवदुक्त सामान्यनियमका अपवाद ही प्रकट होता है.

गोस्वामिद्विविदोंकी अर्थैषणाके अतिरेकका इससे बड़ा सबल प्रमाण क्या हो सकता है कि जिन श्रीगोवर्धननाथजीके भगत होनेका झंडा फरका रहे हैं स्वयं उनके वचनका प्रामाण्य ये नहीं मानते !

ऐसी स्थितिमें साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीकी ध्रुवसिद्धान्तोक्ति यदि देवलकोक्तिकी तरह अप्रामाणिक न हो तो उनके सेवाप्रकारके कारण बिगाड़ होता माननेपर वह आपत्ति पुष्टिमार्गीय सेवाप्रकारपर भी लागू होगी. अतएव इस प्रकारको अपवाद मानें सिवाय गति ही नहीं. यों अपवादतया मान्य करनेपर वहां भगवत्सेवार्थ परद्रव्यके विनियोगकी अनुज्ञाविधिको स्वीय द्रव्यसे भगवत्सेवाके सामान्यशास्त्रकी तुलनामें अपवादशास्त्रतया ही मान्य करना पड़ेगा.

ऋणापाकरण न करनेको पाप माना जाता होनेपर भी, आवश्यकता होनेपर ऋणादानको शास्त्रोंमें कहीं भी निषिद्ध नहीं माना गया है. ऐसे अनिषिद्ध उपायद्वारा भी भगवत्सेवा करनेकी रीतिको वार्तासाहित्यमें एकत्र नहीं प्रत्युत अनेकत्र, स्वयं गदाधरदासजीकी ही वार्तामें भी, निषिद्ध ठहराया गया है : **''उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है''** – **''जहां तांई करज न चुकावे तहां तांई वाकी सेवाको फल वाके पास नाहीं''** (८४वै.वा.८।१ – ६०।१). ऐसी स्थितिमें द्रव्य उधार ले वित्तजा सेवा करनेवाले तनुजा सेवाकर्ताकी विभक्त तनुजा और वित्तजा एककर्तृका नहीं, ऐसे तो कहा नहीं जा सकता. फिरभी भावप्रकाशकार उसे वित्तदाताकी सेवा मान रहे हैं. इसे श्रीपुरुषोत्तमजीके **''नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्''** (सि.मु.वि.प्र.२) इस वचनसे संवादित करनेपर गोस्वामिद्विविदोंकी कुत्सित कल्पना निरस्त हो जाती है कि यह निषेध उत्तमाधिकारीके लिये है. क्योंकि ऋणगृहीताद्वारा ऋणरूप लिये धनसे विक्रीत अन्न वस्त्र या गृह अथवा अनुष्ठित विवाहादिकर्मोंसे प्राप्त भार्या आदिपर अजघन्य ऋणदाता कभी अपना स्वत्व प्रकट नहीं करता. केवल ऋणके अपाकरणकी ही अपेक्षा रखता है.

अतः लौकिक न्यायकी तुलनाद्वारा देखनेपर ऋण ले कर की गयी भगवत्सेवा ऋणगृहीताकी ही होनी चाहिये थी, ऋणदाताकी नहीं. भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया परद्रव्यग्रहण करनेवाले देवलकोंके ठाकुरजीको कतिपय श्रद्धाविहीन धनिक वैष्णव और सरकारी कानून भले ही वैष्णव जनताके सार्वजनिक धर्मानुष्ठानार्थ भगवत्स्वरूप

मानते हों परन्तु अधिकांश भोली ग्रामीण जनता तो कुछ भी समझे बिना द्रव्य प्रदान करती रहती है.

उन्हें मालूम भी नहीं होता कि वे क्यों एतदर्थ द्रव्य दे रहे हैं. क्या गोस्वामिद्विविदोंको उनके स्व(सु + अ = स्व)धर्माचरणरूपा भगवत्सेवामें सहायताके हेतु, या (दे धनाधन पैदा कर बढ़ा रखे) विशाल परिवारके पालनके हेतु, या द्रव्यदानको भ्रान्तिवश अपने साम्प्रदायिक कर्तव्य मान लेनेके हेतु, या इन द्विविदोंके सेव्य भगवत्स्वरूपमें श्रद्धातिरेकके वश, या मठड़ी-होहनथाल आदि मिठाई खरीदनेके हेतु, अथवा गाममें अपनी प.भ.के रूपमें विख्यातिके हेतु, इनमेंसे किस हेतुके वश दे रहें हैं, यह वे खुद भी जानते नहीं होते ! ऐसी स्थितिमें यह वित्तदान तनुजा करनेवालेकी वित्तजा सेवा हो कैसे पायेगी ? यदि वह देवलक न हो !

अतः परिवारेतरजनोंके द्रव्यसे भगवत्सेवा सम्पादित करनेकी निषेधाज्ञा स्पष्ट शब्दोंमें दे ही रखी है. फिरभी तनुजा और वित्तजा के एककर्तृकताके बहाने बना कर यदि बलीयसी भगवदिच्छा अथवा गदाधरदासजीके आधिदैविक सामर्थ्य के कारण बनजारेके दैवी जीव होनेका बहाना बना कर परद्रव्य लिया जाता है तो श्रीकृष्णकी रासक्रीडा या श्रीबलरामका मदिरापान या प्रद्युम्नका अपने मामा रुक्मीकी कन्या रुक्मावतीसे विवाह आदिको भी शास्त्रतः अनुमोदनीय कृत्य मानना पड़ेगा ! अन्यथा श्रीनाथजीके देवालयकी रीतिकी तरह ही गदाधरदासजीकी बनजारेके द्रव्यसे की गयी सेवा भी **''भगवत्सेवायामपि... इतरनिषेधार्थम्...''** वचनोक्त उत्सर्गविधिका अपवाद माने बिना कोई गति ही शेष नहीं रह जाती है. यह न स्वीकारनेपर तो कृष्णदासजीके प्रकारको भी अनुसरणीय मानना पड़ेगा.

अतः आचार्यवंशजोको भी कृष्णदासजीके जैसी एककर्तृका तनुजा और वित्तजा दो सेवाओंका सिद्धान्त **''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** विधानके लक्षणोदाहरणतया अपनाना पड़ेगा, केवल गदाधरदासजीके अनुसरणसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है. **''यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेव इतरो जनः स यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तद् अनुवर्तते''** (भग.गीता.३।२१)न्यायेन पहले स्वयं अपने जीवनमें कृष्णदासजीकी सेवानिष्ठा चरितार्थ करके दिखानी पड़ेगी कि नहीं ? अथवा

कृष्णदासजी, किस अर्थमें, गदाधरदासजीसे निम्नकोटिके भक्त थे ? यह कोई खुल कर तो बताये ! अतः श्रीनाथजीके देवालय या गदाधरदासजी और कृष्णदासजी परद्रव्यसे सेवा-प्रसादवितरणके प्रकारको आधिदैविक सामर्थ्यवश अनुष्ठित सेवाका आपवादिक प्रकार माने सिवाय कोई गति नहीं रह जाती.

अपनी मूढताको अनावृत करने ''अव्यापारेषु व्यापार''के स्वभावसिद्ध दुर्व्यसनके वश एक विधान **''शास्त्रमें प्रतिप्रसव निषिद्धका होता है अपवादका नहीं. मगर कौन समझाये भोलेनाथको...? इनका बस चले प्रतिप्रसवका प्रेतप्रसव कर डालें''** ('गदापदातत'पृ.३) किया है. यह तो अच्छा ही किया ! क्योंकि कहा गया है कि **''शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः''** अतः मनकी स्वच्छन्दचारितामें विधिका बन्धन मरणाधिक त्रासदायक लगता होनेसे विधिके स्वरूपमात्रका अज्ञान यहां प्रकट हो गया ! पूर्वमीमांसाभाष्यमें सुस्पष्ट शब्दोंमें -

''विधिः कः ? यद् वाक्यम् उपलभ्य पुरुषः (नतु प्लवंगमः) कस्मिंश्चिद् अर्थे (नतु अनर्थे) प्रवर्तते. कुतश्चिद् (सर्वत्र अर्थोपार्जनैकव्यसनाद्) वा निवर्तते स विधिः. विधीयते हि अनेन (नतु जघन्याधिकारसम्पादको अनर्थः प्रत्युत) अर्थः इति'' (पू.मी.भा.७।४।२।१०).

बलवद् अनिष्टसे असम्पृक्त ऐसे इष्ट=अर्थमें प्रवर्तनार्थ विधायक वचन उत्सर्गरूप सामान्यशास्त्र होता है. इसी तरह बलवद् अनिष्टसे सम्पृक्त इष्ट; या अल्प इष्टसे सम्पृक्त बलवद् अनिष्ट, से निवर्तनार्थ निषेधक वचनको भी विधि ही माना जाता है. यों ये दोनों ही 'सामान्यशास्त्र' कहलाते हैं.

अतएव विधिके [१]सामान्य [२]विशेष [३]प्रतिप्रसव [४]अभ्यनुज्ञा [५]उपसंहार [६]व्यवस्था [७]पर्युदास [८]अभाव [९]साधारण [१०]उत्कर्ष और [११]अपकर्ष यों ग्यारह प्रकार माने गये हैं. इन ग्यारह सामान्यादि विधिके प्रभेदोंको जातिविधि गुणविधि द्रव्यविधि और क्रियाविधि के प्रभेदोंसे चतुर्गुणित करनेपर ४४ प्रभेद बनते हैं.

इन्हें पुनः उद्देश्यविधि विधेयविधि या उभयविधि के तीन उपभेदोंसे त्रिगुणित करनेपर १३२ भेदोपभेद सिद्ध होते हैं. प्रकारन्तरतया पुनः अपूर्वविधि नियमविधि या परिसंख्याविधि की तरह ही उत्पत्तिविधि विनियोगविधि अधिकारविधि आदि कितने सारे भेदोपभेद-अवान्तरभेदोंसे भरपूर यह शास्त्रीय तत्त्व है.

इन्हें न तो काव्यकल्पनाके आधारपर और नहीं किसी बेचारे दीन गज्जाजीके मज्जाशोषणद्वारा ही समझा जा सकता है ! इन गम्भीर विषयोंका परीक्षारहित उद्देशसंकीर्तन भी प्लवंगमाधिकारक विषय नहीं. वह तो विनीतभावसे गुरुचरणोंके पास बैठ कर शास्त्राध्ययन करनेपर ही बुद्धिगत किया जा सकता है.

अतएव कर्तव्यके उपदेशक सामान्य विधिशास्त्र और अकर्तव्यके उपदेशक सामान्य निषेधशास्त्र के बाधको 'अपवादशास्त्र' कहा जाता है. इस अपवादशास्त्रके भी बाधको पुनः 'प्रतिप्रसवविधि' माना गया है. इसे सीमित परिधिमें न ले कर [१]सामान्य-[२]विशेष-[३]प्रतिप्रसवके क्रमानुरोधवश लिया जाता है. यह अर्थैषणाक्ष्यकी भलीभांति चिकित्साके बिना बुद्धिगत हो सके, ऐसी तो कथा ही नहीं है. यह तो शास्त्रैकचक्षु विद्वज्जनोंकेलिये ही अवलोकनार्ह विषय है. फिरभी तत्त्वबुभुत्सुओंके अवबोधनार्थ यह खुलास करना आवश्यक है.

इनके अन्तर्गत 'अपवादशास्त्र'के दो रूप होते हैं : [१]विध्यपवादरूप निषेधवचन और [२]निषेधापवादरूप विधिवचन.

इस तरह अन्यतररूप अपवादशास्त्रके भी बाध करनेपर जो प्रतिप्रसव होता है वह भी [१]निषेधका प्रतिप्रसव हो तो विधिरूप हो जाता है और [२]विधिका प्रतिप्रसव हो तो निषेधरूप हो जाता है.

अतएव विधिवशात् प्राथमिक प्राप्तिका अनुसरण करवानेके अर्थमें द्वैतीयीक अप्राप्तिके बाधद्वारा **''अकर्तव्यत्वेन उक्तस्य कर्तव्यत्वेन उक्तिः प्रतिप्रसवः''** (बाल.९९) भी कहा गया है. ऐसे ही रागान्तरवशात् द्वेषवशात् या निषेधवशात् प्राथमिक अप्राप्तिके बाधतया द्वैतीयीक प्राप्तिके बाधनार्थ भी प्रतिप्रसव हो सकता है. अतएव **''न हिंस्यात् सर्वभूतानि''** (छान्दो.उप.८।१५।१) निषेधरूप वचनके बाधार्थ अपवादतया **''अग्निषोमीयं पशुम् आलभेत''** (तैत्ति.संहि.६।१।११) वचन विधिमुख होता है. यह विशेषबाध है. अतः स्वाभाविक रूपमें छान्दोग्योपनिषद्वचनसदृश वचनोंसे प्राप्त ही हिंसासे निवर्तनके

अपवादतया कर्मयोगके अन्तर्गत कर्तव्यत्वेन विधिविहित आलम्भनके भक्तिमार्गीय साधनामें बाध करनेको भागवतमें –

''निषेवितेन अनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन न अतिहिंस्रेण नित्यशः।।''

(भाग.पुरा.३।२९।१५).

इस वचनकी सुबोधिनीमें आचार्यचरण कहते हैं कि निर्गुणभक्तिके साधनोंमें मुख्य साधन अन्तःकरणकी शुद्धि होती है. इनमें आधिभौतिक साधनोंद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि धर्मार्थ होती है. आध्यात्मिक साधनोंद्वारा ज्ञानार्थ अपेक्षित शुद्धि होती है. इसी तरह जो आधिदैविक साधन होते हैं उनसे भक्त्यर्थ परम शुद्धि सिद्ध होती है. ये क्रमशः स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक उपाय हैं. इन स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक कर्मोंका अनुष्ठान मुख्यकल्पतया और कामनारहित हो कर करना चाहिये (अनुसन्धेय जिन कर्मोंमें पदे-पदे फलश्रुति मिलती है, उनको भी भक्त्यंगतया करना हो तो महाप्रभु निष्कामतया अनुष्ठेय बता रहे हैं. जबकि उनके वंशज होनेके अलावा अन्य किसी भी तरहकी फूटी कोड़ीकी भी योग्यता न रखनेवाले गोस्वामिद्विविद स्वयं अर्थार्थितया ही भक्ति करनेकी वक़ालत करते लजाते नहीं!).

इसके बाद श्रुतिविहित अनिषिद्ध पश्वालम्भनके प्रतिप्रसवार्थ अतिहिंसाका निषेध समझा रहे हैं. अतएव यज्ञकर्म भी जब फलार्थ होता है तो वह भौतिक कर्म बन जाता है, शुद्ध्यर्थ होता है तो आध्यात्मिक और भगवदर्थ होता है तभी आधिदैविक, ऐसा स्वीकार सुबोधिनी (१०।६७।४१) में किया है. अतः अर्थार्थितया स्वयं भक्तिकी वक़ालत करनेवाले अपनेको महाप्रभुके वंशज माननेमें शरमाते क्यों नहीं?

स्मृति और तन्त्र दोनोंके प्रामाण्यके अनुरोधवश देवद्रव्योपभोग या आजीविकार्थ या अर्थोपार्जनार्थ भगवदाराधना व्यक्तिको देवलक बनाती है, यह प्राप्त ही था. अतः इस बारेमें नूतन विधानकी या निषेधकी कोई अपेक्षा ही नहीं थी. अतएव नरहरदासकी वार्तामें **''तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे''** (८४ वै.वा.भा.प्र.१।७१) यो आपने देवद्रव्योपभोगकी निषिद्धतामें अपनी अचलनिष्ठा भी प्रकट की ही है.

अतएव, अर्थैषणान्धोंको न भी समझमें आता हो परन्तु, गदाधरदासजीको तो समझमें आया ही था. अतएव अर्थार्थी बन कर नहीं प्रत्युत सर्वथा भगवदर्थ

ही भगवत्सेवा करते थे. अतएव स्वयंके यजमानोंसे स्वयंको जो कुछ अयाचित मिलता उसका भी संग्रह नहीं करते थे **''तनुजा/वित्तजा जो बने सो करें (यदृच्छालाभसन्तुष्टतया ही नकि भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया... अधिक राजभोग–नोरथादि करवाने भी) बहोत संग्रह करे नाहीं (और न हवेलीट्रस्ट बना कर व्यापारिक पेढ़ीपर समाधानी बैठा कर भगवत्सेवार्थ आते परद्रव्यके लाभमेंसे तीस प्रतिशत मेहनताना लेकर ही) जो आवे ताकी सामग्री करि श्रीमदनमोहनजीको भोग धरें. वैष्णवकों महाप्रसाद लिवाइ देते''** (८४।८ वै.वा.भा.प्र.), यह गदाधरदासजीकी ही वार्ताके भावप्रकाशके आधारपर भी सिद्ध होता है. न तो वे देवद्रव्यसे भगवत्सेवा सेवा करते थे और न आजीविकार्थ ही. यह तो दिनके उजालेके जैसी साफ बात है. देखने लायक बात यही है कि ब्राह्मण होनेके कारण गदाधरदासजीको दानरूपेण जो कुछ मिलता उसका ही शास्त्रानिषिद्ध आजीविकाके उपायतया प्रतिग्रह करके सेवा करते थे. अतएव उनकी सेवा स्वीय तनु और स्वीय वित्त से ही सिद्ध होती थी. सो इनकी भगवत्सेवा एककर्तृका अविभक्त तनुवित्तजा ही थी. अतएव अपने निजी वित्तके विनियोगके दृढ़ आग्रहवश ही उधार लेकर भगवत्सेवा नहीं की **''उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है इनकी सेवा नहीं''** (८४वै.वा.भा.प्र.८।१) ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंका सेवाप्रकार तो इनके सेवाप्रकारके जूतेसे भी होड़ नहीं कर सकता.

ऐसी स्थितिमें सन्तदासजीने भी जो अपने सेव्यप्रभुकी सेवाके हेतु जो सम्पत्तिका बंटवारा किया वह भी मूलमें देवसम्प्रदानकतया देवस्वामिक द्रव्य न हो कर महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिके अनुसार भगवत्सेवार्थ न्यस्त स्वद्रव्य था, परद्रव्य नहीं. वह तो भगवत्सेवाप्रयोजनक केवल द्रव्यन्यास था. फिरभी उस द्रव्यका वे प्रसाद नहीं लेते थे. यह सन्तदास चोपड़ाकी वार्तामें **''कछू दिनमें तेरो सगरो द्रव्य नास होइगो. जो द्रव्य श्रीठाकुरजीमें लगावेगो सो रहेगो. परन्तु श्रीठाकुरजीको वैभव बढ़ाये पाछे जब द्रव्य न होई तब वामेंते खानपान करे सो बहिर्मुख होई''** – **''तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीकी पूंजीके द्रव्यमेंते चोबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते... तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते महाप्रसाद लेते''** (८४वै.वा.भा.प्र.७६।१). यह भगवत्सेवार्थ महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिमें देवद्रव्यभक्षणके निषेधकी उपसंहारविधिका उदाहरण है. कण्ठतः वर्णित न सही

परन्तु सम्भव ही नहीं कि उधार ली हुयी पूंजी उन्होंने शनैः-शनैः चुकायी न होगी. यह उधार लेकर भगवत्सेवा करनेके सामान्य निषेधकी आपवादिकी रीति नहीं तो और क्या थी ?

अतः किस वार्तामें भगवत्सेवाविधिके विहित-निषिद्ध प्रकारोंका उत्सर्ग या सामान्य शास्त्रीय प्रकारका उदाहरण प्रकट हुवा है, किसमें विहित/निषिद्ध प्रकारोंके बाधद्वारा अपवादशास्त्रका उदाहरण; अथवा पुनः अपवादशास्त्रद्वारा बाधित प्रकारके प्रतिप्रसवशास्त्रका उदाहरण वार्तामें प्रकट हुवा है, इसे समझे बिना उल्लांगूल प्लवंगमकी तरह एकशाखासे अपरशाखापर निरन्तर चंक्रमण करना कप्यर्थ हो सकता है पुरुषार्थ नहीं.

(६)

अतः आचार्योपदिष्ट सेवाकी देवलकप्राणशोषिका रीति तो ''एतेन भगवदर्थं निरुपधि **स्व** सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव **स्व** देहविनियोगे प्रेम्णि (नतु आजीविकाद्यर्थम्) जाते सा (चेतस्तत्प्रवणरूपा सेवा) भवति भावः'' (सिद्धा.मुक्ता.विव.२) है. इस रीतिके त्याग किये बिना अर्थात् अपनी भगवत्सेवाके हेतु परधन वापरे बिना केवल हृदयमें ''मेरी ऐहिक सारी कामना सेव्यप्रभु पूर्ण करेंगे'' ऐसा सोच कर भी कोई भजनमें प्रवृत्त हो सकता है. अतः ऐसे भी प्रकारका एक लोकार्थी हो सकता है. उसे भगवत्सेवार्थ या अपने ऐहिककामपूर्तिके हेतु धनलाभ न होता हो और सर्वथा क्लेश ही पाता हो और भगवत्प्रिय आचार्यके मार्गपर दृढतासे टिका भी रहता हो तो ऐसोंका भजन व्यर्थ नहीं जाता. कभी न कभी जन्मान्तरमें भगवान् ऐसे सेवा करनेवालेपर अनुग्रह करते हैं, यह कहा जा रहा है नकि दर्शनार्थी जनताको अपनी प्रभुसेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे भगवत्सेवा निभानेवाला और तद्द्वारा अपने आर्थिकलाभका अथवा अपनी पूजाका अथवा अपनी कीर्तिके बिगुल बजानेको छप्पनभोग या भगवत्सेवास्थल के व्यापारिक विज्ञापन बुलशिण्मथरायकी तरह औरकुटपर प्रकाशित करनेवाला. व्यापारिक पेढ़िओंकी तरह हवेलीकी पेढ़ीपर नियुक्त समाधानियोंद्वारा भगवत्सेवार्थ अर्थसंग्रहकी नौटंकी करनेवालेका भगवद्भजन, न तो वार्तामें और न कण्ठोक्त उपदेशोंमें ही, व्यर्थ न जानेकी बात कही हुयी मिलती है. अतः ऐसा भजन भगवद्गामी नहीं होता है, ऐसा प्रकाशकार स्पष्ट कह रहे हैं.

अतएव ''**अत्र एवं मम प्रतिभाति**''अनुच्छेदमें जो त्रिविध संसारी बताये हैं, उनमें जो संसारनिवृत्तिकी कामनाके वश भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता हो उसे 'अर्थार्थी' मानना तो द्विविदमतिविलास है.

(७)

इसके अवान्तर प्रभेदतया ''**सेवानाग्राही भी प्रतिफलाद्यर्थ दुराग्रहेण भगवत्सेवामें प्रवृत्त अतिजघन्यतर भक्त**'' ('गदापदातत'पृ.२५) जो कहा है वह तो ''मम माता वक्ध्या'' वचनके सदृश वदतोव्याघातरूप प्रतिपादन है. प्रकाशकार आग्रही और अनाग्रही का इन अर्थोंमें नहीं प्रत्युत भगवत्सेवार्थ अपेक्षित धनकी प्राप्ति न होनेपर पड़ते क्लेशके बावजूद जो भगवत्सेवाको निभाता है उसे भगवद्-असन्तोषकारक दुराग्रह मान रहे हैं :

> **''तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वप्रकारैः लोकतएव क्लेशं प्राप्नोति. तत्र आद्यस्तु क्लिष्टोऽपि लोकाद् विरज्य चेद् भजेत् कृष्णं तदा उक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैः लोको बाह्यः आन्तरः च नश्यति. ततो 'मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्' इति न्यायेन इह वा परत्र प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवति...''(सि.मु.वि.प्र.१६-१७).**

इसे ''**'अत्याग्रहप्रवेशे'=स्वस्य वा परम आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरन्ति... तत्र पूजा त्यक्तव्या ...**''(त.दी.नि.२।२४७) वचनसे संवादित करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जिसे भगवत्सेवाके त्यागकी आज्ञा दी जा रही है, वह भगवत्सेवाके दुराग्रहवश न छोड़े तो सर्वथा क्लेश ही पाता है. यही है उसका अवान्तरफल. क्योंकि वार्तामें सुस्पष्ट शब्दोंमें ''**आचार, क्रिया, द्रव्य सों श्रीठाकुरजी प्रसन्न नाहीं, श्रीठाकुरजीमें प्रीति चहिये**'' (८४वै.वा.४२।१) निर्धारित किया ही गया है. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थी सेवाकर्तापर उसके सेव्यप्रभु प्रसन्न ही नहीं हो पाते. क्योंकि वस्तुतः वह न तो भगवदर्थी होता है और न भगवत्सेवार्थी ही. भगवान् तो निष्किञ्चनजनप्रिय होते हैं और निष्किञ्चनभावेन जो सेवामें परायण हो वही प्रभुके सुखका वास्तविक भाव निभा पाता है, अर्थार्थी नहीं.

ऐसे अवान्तरफलानुभवके अभावमें तत्कारणीभूत भगवदनुग्रहका भी अभाव अनुमेय बनता है. उदाहरणतया शोखमोजके साथ केवल परिवारपालनार्थ वल्लभवंशजों द्वारा किये जाते भगवद्भक्तिके व्यापारिक अनुष्ठानोंके कारण कमसे कम हम वल्लभवंशजोंपर तो पुष्टिप्रभुके अनुग्रहका अभाव सुनिश्चित ही लगता है. परन्तु जो आचार्याज्ञाका अनुसरण करते हुवे भगवत्सेवाके बजाय कथा प्रपत्ति तीर्थाटन आदि अनुकल्पोंका अनुसरण करते हैं, उनपर भगवान् जन्मान्तरमें प्रसन्न हो सकते हैं.

देखने लायक बात है कि सद्योगृहीत वार्ताप्रामाण्यका पक्ष भी नूतन प्रतिपादनमें छोड़ दिया गया है : **''महाप्रभुने देवीभक्त बंगालिओंको श्रीनाथजीकी सेवा नहीं सोंपी थी... वे बंगाली देवीभक्त नहीं प्रत्युत पुष्टिसम्प्रदायके ही निकटतम अनुयोगी ऐसे माध्वगौड़सम्प्रदायके रूपसनातनके शिष्य थे''** (‘गदापदातत’४). तो यही तो है श्रीगोवर्धननाथजीमें इन गोस्वामिद्विविदोंकी निष्ठाके ह्रासका प्रबलतम प्रमाण! द्रष्टव्य :

> **''तब एक दिन श्रीगोवर्धननाथजीने अवधूतदासजीकों जताई जो ‘तुम कृष्णदास अधिकारीसों कहो जो इन बंगालीनकों निकासो... और ये बंगाली मोकों भोग धरत हैं सो इनकी चुटियामें एक देवीको स्वरूप है सो मेरे पास बैठावत हैं. तासों इन बंगालीनकों बेगि काढ़ो'' (८४वै.वा.८४।२).**

कारण इसमें और कुछ नहीं श्रीगोवर्धननाथके सेवाप्रकारकी पुष्टिमार्गीय होनेकी शपथ खा रखी होनेके कारण बिना भी ब्रह्मसम्बन्धके भगवत्सेवाके शक्य होना सिरपर आ पड़ेगा. तब अपनी सृष्टि बढ़ा कर मुख-सिर-हाथ-पैर आदि अनेक अंगप्रत्यंगोंसे जनताके द्रव्य ऐंठनेमें प्रतिबन्धकी सम्भावना सताने लगती है!

अतएव किरीटभाई फटानियाके विरोध करनेको सिद्धान्त रटने लगते हैं ''वल्लभवंशज न होनेसे उसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेका अधिकार नहीं है'' पर वंशप्रवर्तक महाप्रभु स्वयं यह आज्ञा करते हैं कि भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण न होनेपर किसीको भी गुरु बनाने अथवा ऐसे व्यक्तिसे भगवत्स्वरूपको पुष्ट करवाने के बजाय स्वयं ही भगवत्सेवा प्रारम्भ कर देनी चाहिये ***''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''*** (त.दी.नि.२।२२८). तब सिद्धान्तके साथ लुकाछिपी खेलना चाहते हैं. प्रतिप्रश्न करने लगते हैं *''हमारे भीतर गुरुके लक्षण हैं या नहीं जांच करने योग्य वैष्णवोने अपने-आपको कैसे मान लिया?''* जबकि श्रीपुरुषोत्तमजी भी स्पष्ट शब्दोंमें **''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य... स्वयमेव सेवाकरणेऽपि...''** (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८) व्याख्यानद्वारा इसका अनुमोदन कर ही रहे हैं. ऐसी स्थितिमें यह तो पूछा ही जा सकता है कि किरीटभाईमें अधिकाधिक गुरुलक्षणाभाव होगा परन्तु भगवत्सेवाका व्यापार करनेवाले हमारे गोस्वामिद्विविदोंमें तो सर्वथा विपरीत लक्षण ही प्रकट हो रहे हैं उसका क्या?

एतावता सिद्ध हो जाता है कि अपनी प्लवंगममतिके दुर्भाग्यवश इस वार्ताप्रामाण्यके पक्षको भी इन गोस्वामिद्विविदोंको शीघ्र ही पुनः छोड़ना ही पड़ेगा. इसमें मूलहेतु एक अन्य ही कर्णोपकर्ण सुनायी दिया तथ्य है. इन द्विविदवृन्दके सदस्योंको अपनी दुर्दम द्रव्यवासनाकी पूर्तिके हेतु किसी कामाख्यादेवीकी भी नित्यपूजा करनी पड़ती है. एतदर्थ श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शन बाहर पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको करा कर उससे हुयी आमदनीसे भीतर उस कामाख्यादेवीके पूजनका प्रकार चलाया जाना है. सो कभी पोल अगर खुल भी जाये तो उससे पहले बांध बनानेको यह गोस्वामिद्विविदमुकुटायितका आश्रय लेकर यह लिखवाया गया है. यदि श्रीगोवर्धननाथजीके प्रति लेशमात्र भी निष्ठा इन लोगोंमें होती तो स्वयं श्रीगोवर्धननाथजीके मुखारविन्दसे निकले वचनको ‘अप्रामाणिक’ कह पानेका साहस जुटा ही नहीं पाते!

अतः इस विषयमें भी किसी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-विवादका अवकाश ही नहीं है. कोई अपनी बलासे एतदर्थ आत्मना मनसा वाचा अपने-आपको सन्नद्ध मान कर आत्मपीडन करना चाहता हो तो प्रभु करे कि वह

सहस्रपरिवत्सरपर्यन्त ऐसी पीड़ासे कभी छुटकारा न पाये! मुझे तो कोई इस विषयमें किसी तरहकी इच्छा रुचि या उत्सुकता ही नहीं. हां लिखितरूपेण कोई मुद्दा सामने आता है तो वह अन्य भोले लोगोंको पथभ्रष्ट न करे इस हेतुसे लिखित प्रत्याख्यान तो करते रहना तो मेरी पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणद्वयी के प्रति परमप्रतिबद्धता है. अतः शास्त्रचर्चार्थ ऐसोंके पास जाना या उन्हें बुलाना मेरी घोषित प्रतिबद्धताका भंग होगा! अतः यही कहा जा सकता है :

उज्र जानेमें भी है और बुलानेमें भी है।
लग़वगो जाहिलके तो रुबरु होनेमें भी है।।
शक्ले-इन्सांमें भटकते हुवे बर्ज़खसे हमें।
हमक़िरानी ही नहीं हमकलाम होनेमें भी है!।।

(८)

इस सारे विवादके मूलमें जो प्रमुख कलहबिन्दु है वह तो आचार्यवचनोपदिष्ट सेवाके प्रकारसे आधुनिक देवलक गोस्वामिद्विविदोंके सर्वथा विपरीत आचरणके कारण उभरता है. इनके आचरण क्योंकि सिद्धान्तवचनोंसे ही केवल नहीं अपितु स्वयं अपने भी तत्तद् अवसरपर अन्यान्य आभिप्रायिक(!) प्रयोजनोंके वश बोली गयी बातोंसे विरुद्ध जाते हैं. ऐसे भुला दिये गये वचन जब पुष्टिमार्गीय जनतामें पुनःप्रकाशित ही नहीं प्रत्युत चर्चित भी होने लगे हैं, तब आक्रोशका ज्वालामुखी फूट पड़ना स्वाभाविक ही है. इस ज्वालामुखीमें से और कुछ नहीं, केवल इन गोस्वामिद्विविदोंके दिलोंमें भरे भय कुण्ठा अपराधबोध आत्मग्लानिजन्य लज्जा तथा आर्थिक संकटकी सम्भावना का लावारस निकल रहा है और कुछ निसर नहीं रहा!

अतएव जो थोड़ा भी लोकमानस और देशकालकी आधुनिकताको पहचान पाये हैं, वे तो मौन रह कर कथञ्चित् प्रतीक्षा करनेमें ही अपना श्रेय मानते हैं. ऊंट किस करवटपर बैठेगा उसका निश्चय इन्हें हो नहीं रहा है. अतः दूरगामी नहीं तात्कालिक हित अधिकाधिक विपरीताचरणद्वारा जनताको बरगलानेमें ही मानने लगे हैं. अतः ''फटाटोपो भयंकरः'' प्रकट करनेवाले विमर्शकारने भी इसका

भलीभांति आकलन कर मौनव्रत ग्रहण करनेमें अपना श्रेय मान लिया है. गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिकी तो कथा निराली ही है! जैसाकि मेरे पास एक केसेट्में मुद्रित प्रवचनमें अपने स्वरूपके बारेमें स्वयंने मेरे ऊपर अहंकारका आरोप लगा कर यह और स्वीकार लिया कि अहंकारीसे भिड़नेमें भीरु विद्वानोंने मूढ़ कालीदासको जैसे भिड़ा दिया ऐसे इन्हें मेरे साथ भिड़ा दिया गया है! अतएव अपने पितृचरणके जन्मोत्सवपर भी बधाईगानके बजाय मर्सियाके जैसा ''दिलके अरमां आसुओंमें ढल गये'' फिल्मीगीतकी तर्ज़पर गाया कि **''कही गयो ते कही गयानो वसवसो. रही गयुं ते रही गयानो वसवसो. जीववुं निष्काम मुश्किल काम छे. ज़िन्दगी एक वसवसानुं नाम छे!''** गाये चला जा, गाये चला जा, एक दिन तेरा भी ज़माना आयेगा. अतः अपने इसी ऐसे क्षोभको ''कोति पुण्डु ब्रह्मराक्षसम्'' बनानेमें पता नहीं, अपनी बुद्धिका क्या प्रकर्ष मान लिया है!

विचार्यविषयका पञ्चमांग संगति :

इस बदहवासीमें किसीको बादमें न घिरना पड़े इसीलिये तो सिद्धान्तचर्चासभासे पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' नामक वचनसंकलनमें-

[१]सेवोपदेशदीक्षा [२]सेवास्वरूप [३]सेवाप्रदर्शन.
[४]सेवाप्रयोजन [५]सेवास्थल [६]सेव्यस्वरूप.
[७]सेवार्थ आजीविका [८]सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक [९]सेवोपदेष्टा.
[१०]भागवतकथा [११]स्वसेव्यस्वरूप-प्रसादग्रहण [१२]तीर्थपर्यटन.
और
[१३]आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकार.

इन शीर्षकोंके नीचे पूर्वाचार्योंके ग्रन्थस्थ वचनोंको संकलित किया गया था. इसी तरह 'अमृतवचनावली' नामक अन्य वचनसंकलन भी इन सिद्धान्तवचनोंकी परम्परया क्या व्याख्या होती चली आयी है वह एकवाक्यता दरसाने तथा संस्कृतभाषासे अनभिज्ञ जनताको भी वह समझमें आ जाये एतदर्थ प्रकाशित करवायी गयी थी. उसका भी चर्चासभामें चर्चार्थ प्रामाण्य स्वीकारनेसे अपनी अप्रतिबद्धता मुझे सूचित की गयी. अतएव चर्चाके समय उसे परिशिष्टतया साथ प्रकाशित करवानी पड़ी.

मेरा इन दोनों तरहके वचनोंके संकलनोंमें प्रमुख सदुद्देश्य यह भी था कि जो भी कोई चर्चार्थ उद्यत होना चाहता हो उसे विवादास्पद मुद्दोंकी गंभीरताका आकलन हो पाये. मैं नहीं समझता कि वह आकलन लेशतः भी न हो पाया होगा. क्योंकि बहोत सम्भव है कि चर्चामें अर्थहीन बातोंके निरर्थक खुलासा पूछ-पूछ कर सारी चर्चाको सबॉटेज करनेकी जो कुटिलता दरसायी गयी वह इसीलिये अपनायी गयी होगी. अतः अन्तमें मुझे घोषित करना पड़ा कि चर्चाकारद्वारा पक्षग्रहणके अभावमें चर्चा आगे नहीं करूंगा. तब भी यदि डटे रहते कि किसी तटस्थ विद्वान्के माध्यस्थ्यके बिना पक्षग्रहण नहीं करूंगा तब तो कुछ बात बन भी जाती. हानि तो केवल एक ही सम्भावित थी कि चर्चामें उपस्थित जनता यही सोच लेती कि चर्चार्थ उद्यत होनेपर भी अपना पक्ष क्या है वह बता नहीं पाये ! सो पक्षग्रहणपर बलात्कारके आरोप लगा कर, जो अभी तक चालु रखा है, चर्चार्थ उद्यत होना पड़ा.

वैसे तो यह सिद्धान्तचर्चाके आयोजकोंने अपनी नियमावलीमें (९) (१०) (११) (१२) और (१३) नियमोंके अन्तर्गत यह महीना भर पहले ही स्पष्ट कर दिया था. फिरभी उन्हीं चर्चानियमोंके आधीन चर्चा करनी या नहीं करनी, ऐसी बेतुकी चर्चामें कालयापनकी कुटिलता दिखलानी पड़ी. **''सिद्धान्तवचनोंके भावानुवाद क्यों पढ़ें ?'' या ''पढ़े ही नहीं !''** जैसा बचकाने बहाने चल न पाये एतदर्थ अशुद्धिनिर्दशनके अन्तर्गत भरी सभामें सबके सामने ''करो अंडरलाईन ! करो अंडरलाईन'' का 'दे धनाधन' नाटक मैंने भी बड़ी दैर तक चलने दिया. परन्तु समझ न पाये कि बात जा कहां रही है ! और पक्षग्रहणमें सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित सीमित वचनोंमें बंधनेको इन्कार कर स्वयंने ही अन्य भी वचनोंकी संगतिके विचारकी भी आवश्यकता स्वीकार ली. परिणामतया 'अमृतवचनावली'में संकलित वचनोंको भी विचारनेकी आवश्यकता भी स्वयं गलेमें बांध ली.

जब महाप्रभुसे प्रारम्भ कर अधुनावर्ती अनेकानेक वृद्ध पुरुषोंके वचन, जिन्हें साधारण जनताको समझनेमें संस्कृतभाषाकी तरह किसी कठिनाई आ ही नहीं सकती थी, उनका भी प्रामाण्य स्वीकार लिया तो, विचारणीय कुछ भी शेष ही रह नहीं गया. स्वयंस्वीकृत प्रामाण्यके बन्धनमें स्वयंको बुरी तरह फंसना पड़ा.

स्वयंको अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालोंके वचनोके अलावा स्वयं अपने नि.ली. पितृचरणके वचन भी स्वयंके मस्तक पर वज्रपातकी तरह आ पड़े !

इससे उद्विग्न होना तो स्वाभाविक बात थी. अतः अस्थिरमति होनेकी विडम्बना ऐसी नहीं तो कैसी होगी ! ये सारे पहलु चर्चार्थ उद्यत होनेसे पहले शान्तचित्तसे विचारे होते तो ऐसी दुर्गति नहीं होती. पर ''दैवो हि दुरतिक्रमः''न्यायेन जो होना था सो हो ही गया ! सांझको चर्चा समाप्त करनेको मेरे घर आ कर **''सौराष्ट्रकी जनतामें इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा. सो आपसी मिलीजुली चर्चाद्वारा समय व्यतीत कर चर्चासभाके सम्पन्न होनेकी घोषणा कैसे करनी''** यह समझाने लगे. इसलिये मैं उद्यत नहीं था क्योंकि न तो मेरी कहीं सृष्टि है और न यह चर्चा मेरेलिये अपनी छबिको उभारनेकी कोई योजना थी. मेरा प्रयोजन तो मैंने अन्तिम दिनके सत्रमें भरी सभामें प्रकट किया ही था. इसे विस्तृ.विव.में पढ़ा-विचारा जा सकता है. यदि अब भी हिम्मत हो तो मेरेपर मिथ्याभाषणका आरोप न्यायालयमें लगाया ही जा सकता है और वहां सारे प्रमाण प्रस्तुत करने मैं प्रतिबद्ध हुं. द्विविदमतिके वैभवका अपर उदाहरण यह और देखने लायक है कि जामनगरकी हवेलीके चोकमें भाषण करते समय यह और स्वीकार लिया कि कुछ भी बात करनी हो तो सम्हाल कर करनी चाहिये क्योंकि छिपे टेपरेकार्डरसे बातके रेकार्ड हो जानेकी सम्भावना है. जैसे चर्चामें सिद्धान्तपक्षकी प्रस्तुतिके कारण प्राप्त सन्मानपत्रके अप्रामाणिकताकी घोषणा स्वयंने निजहस्ताक्षरोपेत दी परन्तु सौराष्ट्रमें पुनः सन्मानपत्र पानेकी सन्मानसभाओंके आयोजन न करनेका लोभसंवरण हो नहीं पाया ! फलतः मुझे वह पत्र प्रकाशित करवाना पड़ा. ऐसे ही उद्ध्वस्त मनःस्थैर्यके वश पुनः 'गदापदातत' प्रकट हो गयी है.

इसमें जो अब अष्टविध अर्थार्थीके प्रभेद दिखलाये गये हैं, उनमें गीतोक्त अवशिष्ट तीनों अर्थात् आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव मानें तो कण्ठोक्त चातुर्विध्य ही निरस्त हो जानेसे अर्थार्थी भी निरस्त होगा. अन्यथा अवशिष्टोंके अष्टविध प्रभेदोंका अविचार लेखककी केवल अर्थार्थितामें ही निजमतिके पर्यवसित हो जानेका साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा है.

इसका खुलासा भी पण्डितसभामें मौखिक शास्त्रचर्चाद्वारा ही करना हो तो मेरे पास ऐसी चर्चाकण्डुतीके वारणका कोई उपाय ही नहीं है. क्योंकि अर्थार्थी विभाजनकारको भ्रान्ति है कि लिखितरूपेण की जाती चर्चा कुत्सितप्रेमिकाके

पत्रावलम्बनकी या बार्हन्नली पण्डितपंक्तिमें अनुपवेश्य मनोवृत्ति है. तो क्या महाप्रभु-प्रभुचरण आदि पूर्वाचार्योंकी पत्रावलम्बन विद्वन्मण्डन अवतारवादावली भक्तिमार्तण्ड प्राभञ्जनमारुतशक्ति आदि वादग्रन्थोंमें अंगीकृत विचारशैलीको भी कुत्सितप्रेमिकाके पत्रावलम्बन या बार्हन्नली मनोवृत्ति मानना ? क्योंकि पूर्वाचार्योंके इन वादग्रन्थोंमें भी कोई तटस्थ मध्यस्थ नहीं था. अतः इन पूर्वाचार्योंके लेखनको भी क्या 'दे धनाधन' **(द्रष्ट.''शास्त्रार्थके नियम-अनुसार पक्षग्रहणविधि मध्यस्थ-विद्वान् सम्पन्न करवाते हैं. ऐसे हवामें पक्षग्रहण नहीं होता.'' 'गदापदातत'.पृ.१२)** मानना ? यह तो अनधीतशास्त्रोंके द्वारा किलकिलायित केवल प्रलाप ही सिद्ध होगा. न्यायशास्त्रमें, क्योंकि, शास्त्रार्थ या वाद के नियमको स्पष्ट करते हुवे कहा गया है :

१.''गुर्वादिभिः सह वादो - विजिगीषुणा जल्पवितण्डे''.

२.''नच अयं नियमः प्राश्निकप्रत्यायनायएव वादः. प्राश्निकानन्तरेणापि वादो दृष्टः. यदातु न अयं तत्त्वबुभुत्सुः, लाभपूजाख्यातिकामो वादम् आरभते तदा प्राश्निकैः प्रयोजनम् अस्ति. सत्यम् ! अस्ति प्रयोजनं, वादस्तु तदा न भवति''.

३.वीतरागौ हि वादिप्रतिवादिनावेव वादस्वरूपज्ञानं तत्परीक्षां च कर्तुं शक्नुतः. तत् किम् अत्र प्राश्निकैः ?''

(न्या.भा.वा.ता.टी.१।२।२).

अतएव ऐसे गोस्वामिद्विविदोंको इतना भी ज्ञात नहीं है कि इन ग्रन्थोंमें पूर्वाचार्योंने न्यायनिर्धारित मध्यस्थविद्वान्/प्राश्निककी अपेक्षा रखे बिना न केवल स्वपक्ष अपितु पूर्वपक्षका निरसन भी किया है. अतः किसी भी तरहकी शास्त्रीय मर्यादाके होश बिना अंटशंट बकनेमें तो अपने पूर्वजों तक ऐस अपशब्दोंका प्रयोग पहुंच जायेगा. सो तब ऐसा करनेवालोमें श्रीजगदीशनिर्धारित लक्षणकी अतिव्याप्तिका वारण कैसे करना(!) यह सोच कर गुरुजनोंके प्रति आदरभाववश हृत्कम्प होता है.

द्विविदोंको तो अपने बोलेकी कुछ भी कीमत न होनेसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता. स्वयं मन्दमति होनेके कारण ये कभी किसी पक्षग्रहणकी भूमिपर आ

टपकते हैं. जब फंस जानेका भान होता है तो : **''बलात्कार ! बलात्कार !! दिलके ज़ख्मोंको तू हाथोंमें छुपा ले शायर ! नादां है ज़माना ये डर न जाये कहीं. तुम क्या जानों कि दर्देदिलकी नसीहत क्या है ? दिलके टुकड़ोंको हमने दिल ही में संजोके रख्खा है, फिर कभी यूं ही ठुकरानेको तेरे काम आयेंगे''** (द्रष्ट.विस्तृ.विव.पृ.१९७,३२४-३२५) रोने लगते हैं. सो भी अपने नि.ली.पितृचरणके जन्मदिनपर प्राचीन रीतिसे बधाई गानेके बजाय ''कही गयो ते कही गयानो वसवसो. ज़िंदगी एक वसवसानुं नाम छे'' ऐसे शोकसभोचित गीत गाने लगते हैं. और फिर शाखामृगकी तरह किसी शाखापर चंक्रमण करनेका मौका मिलते ही पुनः वही **''ख्रों-ख्रों ख्रांउ-ख्रांउ किर्र्र्र्ऽऽऽर्क्रिच्च् !(=)तेरा पूराका पूरा विशोधन-धन... दे धनाधन चुटकीमें लुट जाना है... (क्यों और कैसे ? तो कहते हैं) जो तुमको पसंद हो वही बात करेंगे. तुम दिनको कहो रात तो रात कहेंगे. (यही यदि सच हो तो फिर यह क्या हो गया कि) हाय दो कान पकड़ कर वो कुबुलातकी रात, ज़िंदगीभर नहीं भूलेगी वो चर्चातकी रात, एक अन्जान भोलेसे मुलाक़ातकी रात** ('गदापदातत' पृ.१३) ख्रों-ख्रों ! ख्रांउ-ख्रांउ !! किर्र्र्ऽऽर्क्रिच्च् !!!!''

अतः यदि चर्चासभामें पक्षग्रहण करवाया उसका प्रतिशोध लेना हो तो पोल खुल गयी कि पक्षग्रहणमें की गयी कबूलातके कारण स्वयं जो अस्पृश्य असम्भाष्य सिद्ध हो गये. सो अब जबतक मुझे गृहीत पक्षमें कोई विप्रतिपत्ति न हो तो किसी मध्यस्थ विद्वान् या अविद्वान् को बैठा कर चर्चाका प्रसंग मेरेलिये कहां उपस्थित होता है ? यदि उन कुबुलातोंमें जटिल पेच फंसाके रखे हों तो फंसे रहने दो ! मुझे क्या अन्तर पड़ता है ? यदि मुझसे कोई रागद्वेष न हो और केवल सिद्धान्त सबके समक्ष सुनिर्धारित करना प्रयोजन हो तो. अथवा 'गदापदातत'में जैसे अपने पितृचरणको 'भंगेड़ी' या 'बेवकूफ' न कह पानेके वसवसोके कारण 'सरलस्वभाव' ('गदापदातत'पृ.९) कह दिया ! ऐसे ही अन्य भी अनेकानेक गोस्वामिबालकों कहना हो तो उनके वचन जो 'अमृतवचनावली'में संकलित हुवें उनकेलिये भी ऐसी 'गदापदातत' प्रकाशित करवा देनी चाहिये. अन्यथा केवल मेरे ही साथ कोई निगूढ़ द्वेष हो तो सुखेन प्रकाशित करते रहो !

किसी भी सूरतमें मुझे 'भोलेनाथ' जो कहा जा रहा है उसके जवाबमें द्विविदमुकुटमणिको 'कुटिलनाथ' मैं तो कह नहीं सकता. क्योंकि मेरे हिसाबसे, जो गोस्वामिबालक न तो जवाब दे पाते हैं और न अपने दुर्वृत्तपर काबू पा रहे हैं, ऐसे बुलशिण्मथराय टाईपके, इनसे कहीं अधिक कुटिल हैं. जैसे चर्चासभाके बाद 'पुसिसंशी'पदवी प्रदान कर गोस्वामिद्विविद अपने भाईको षष्ठपीठाधीश न मान ले, एतदर्थ 'गदापदातत'कारका पुच्छनिग्रह कर लिया गया! अतः जबभी भविष्यमें मानने जायेगा तब स्वयंको प्रदत्त पदवीपत्रका पठन करनेवालेको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा!

अतः अपनी द्विविदमतिके वैभवके अविरत प्रकाशनके द्वारा 'गदापदातत'कार तो स्वमार्गीय सिद्धान्तोकी सेवा ही कर रहे हैं. फिर व्यर्थ ही क्यों ऐसोंके मुंह लगना? मैं तो न पहले चाहता था और न आज भी कोई चर्चा चाहता हुं. हां ऐसी अंटशंट बकवादके कारण सभीके भीतर पुष्टिके सच्चे सिद्धान्तोंको जाननेकी उत्कंठाके निरन्तर उद्दीपनद्वारा सम्प्रदायकी महती सेवा अनजाने ही श्रीमदनमोहनप्रभु अपने देवलक सेवकसे करवा रहे हैं! चाहे द्वेषवश क्यों न हो पर मेरी आलोचनाद्वारा जनताके भीतर उत्कण्ठा जगा कर की जाती अपने सम्प्रदायकी इस महती सेवाका महत्त्व रागद्वेषरहित सिद्धान्तबोधके लाभमें तो कभी कम कूता नहीं जा सकेगा.

हां! मुझे जो जवाब देना है वह तो मैं लिखितरूपमें देता रहा हुं और रहुंगा भी. द्विविदोंके जैसा बुद्धिभेद स्वमार्गीय जनतामें कहीं प्रकट न हो जाये! इस द्विविदमनीषाके भीतर भरे गहरे दांवपेच तो मौखिक चर्चामें ही प्रकट सकेंगे. अन्यथा शाखाचंक्रमण किये बिना तो कदापि नहीं. सो अपने दांवपेचोंके टुकड़ोंको दिलमें संजोये रखें. न केवल इस जन्ममें अपितु आगामी सहस्र जन्मों तक. कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है. क्योंकि मेरे मनमें कोई दावपेच न तब थे और न अब हैं. मुझे तो सर्वाधिक लाभ इस द्विविदमतिविलासका यही लगता है कि सच्चे सिद्धान्तोंके अवगाहनार्थ मेरे लेख, भविष्यमें प्रभुकृपावश, निर्विवाद मार्गदर्शन प्रदान करेंगे. इससे अधिक मुझे और क्या सहयोग कोई दे सकता है! वस्तुतः तो पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरण की इससे अधिक फलवती कृपा मेरेऊपर और हो ही क्या सकती है!

क्योंकि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार तो सुस्पष्ट शब्दोंमें निर्देश देते हैं **''तस्माद् एवंवादी नोत्तरार्हः. नहि उन्मत्ताय कश्चिद् अनुन्मत्तः उत्तरम् आह. ब्रुवाणो वा सोऽपि उन्मत्तएव स्यात्''** (न्या.वा.ता.टी.१।२।२).

फिरभी **''एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः''** न्यायेन पठित पुष्टिमार्गीयोंके लिये उपेक्ष्य होनेपर भी **''एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः''** न्यायेन अस्पृश्य असम्भाष्य देवलकजनोंसे शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको, इनके उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित अपितु आवश्यक भी है.

वस्तुतः देखा जाये तो तटस्थ विद्वानोंको मध्यस्थ बना कर मौखिक चर्चाद्वारा एकदूजेको पछाड़ देनेकी प्रतिज्ञा या डिंडिमघोषणा से पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' और 'अमृतवचनावली' में संकलित अथवा असंकलित पूर्वाचार्योंके वचनोंकी एकवाक्यता शान्त चित्त तथा स्वस्थ बुद्धि के साथ विचार कर अपनी-अपनी समझको लेखबद्ध कर प्रकाशित करवायी होती तो कुछ बात बन जाती. एकदूजेके साथ अर्थहीन व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धामें दुर्व्यय होते समय और कलुषित होते वातावरण को बचाया भी जा सकता था.

निष्कृष्टसिद्धान्त :

अतः अब यह प्रसक्त होता है कि सिद्धान्तचर्चासभामें [१]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवोपदेशदीक्षाके स्वरूपमें ही भगवत्कृपामूलक इस मार्गमें प्रवेशके आदिम साधनतया गुरुपरीक्षणकी बात महाप्रभुने समझायी है. उसमें भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिदोषरहित कृष्णसेवापरायण होना गुरुतया वरणीय पुरुषकी प्रथम कसौटी है. एतावता अभागवतज्ञ दम्भादिसहित श्रीकृष्णकी अस्वीय तनु-वित्तसे की जाती सेवाके प्रदर्शकोंद्वारा, जो परम्पराके बहाने काढ़ कर आजीविका या अर्थोपार्जन के प्रयोजनवश की जाती कृष्णसेवा तो सिद्धान्ततः भगवत्सेवाका सर्वथा अनभिमत स्वरूप ही है. इसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीके वचन, इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमजीके वचन, जिसमें श्रीमद्भागवतकथाकी दक्षिणा लेनेवालेको भगवन्नामविक्रयका अपराधी दिखाते

हुवे पात्रापात्रके विचारके बिना भगवन्नामात्मक मन्त्रोंकी दीक्षा प्रदानको भी नामविक्रय माना गया है. अतः भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का विक्रय भी अपसिद्धान्त सिद्ध हो जाता है. सेवा हम करें और उसके लिये द्रव्य किसी अन्यका वापरें ऐसी प्रक्रिया सिद्धान्ताभिमत हो ही नहीं सकती. 'अमृतवचनावली'में भी उद्धृत कांकरोली और कामवन वाले महाराजश्रीके वचनोंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर 'तुष्यतु देवलक'न्यायेन सेवाका तनुजा और वित्तजा ऐसा विभक्त स्वरूप मान कर चलें; अर्थात् तनुवित्तजाको अमान्य कर एककर्तृका विभक्त दो सेवायें होती हों तोभी इसी शीर्षकके अन्तर्गत (ख)वचनमें भगवत्सेवाके हेतु अपेक्षित द्रव्य या सामग्री का सन्मार्गोपार्जित होना और सेवकेतरजनका जिसमें भाग न होना, जो अपरिहार्य माना गया है, उससे यह विसंगत हो जायेगा. इतरथा प्रकारके निषेधके कारण पुनः सेवार्थ परद्रव्योपयोगका निषेध गलेपतित होता ही है. अधिक या उत्तम सामग्रीके समर्पणार्थ अपनी भगवत्सेवाके लोकरञ्जानार्थ अनुष्ठानको बहिर्मुखताका सम्पादक जो जताया गया वह भी सेवाके तनुवित्तजा स्वरूपका ही उपोद्बलन है, तनुजा और वित्तजा के द्वैधीभावका नहीं. सेवाके ऐसे स्वरूपका उपोद्बलन पुनः महानुभाव श्रीहरिरायजीके दोनों वचनोंके आधारपर भी सिद्ध होता है. क्योंकि समर्पणके बाद सेवाकी सार्थकताके हेतु स्वीय तनुवित्तके विनियोगपर भार दिया गया है. **''स्वमार्गीय सेवास्वरूपके ज्ञानके अभावमें केवल श्रद्धावश यथाकथञ्चित् की जाती सेवा, केवल भौतिक क्रिया भर रह जाती है'', इस विधानके समर्थनार्थ ''लोकार्थीके कृष्णभजन''**का न्यायापादन श्रीहरिरायजीके अनुसार लोकार्थीकी कृष्णसेवाको 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भव'न्यायका अविषय माननेमें प्रबल प्रमाण है. 'अमृतवचनावली'में संकलित स्वयं गोस्वमिद्विविदोंके ही नडियादके दावेमें सिद्धान्तविद्की हैसीयतमें दी गयी जबानीमें गोस्वामिओंके यहां दर्शनार्थी वैष्णवजनताद्वारा दिये जाते द्रव्यको स्वमार्गविपरीत होनेके कारण और यूं लिये जानेपर हवेली वाल्लभ सम्प्रदायकी नहीं रह जाती, ऐसे कठोरविधानसे भी संवादित किया जा सकता है. इसी तरह पोरबंदरवाले महाराजश्रीने तो प्रभुचरण श्रीविट्ठनाथजीके वचनके आधारपर वृत्त्यर्थ सेवाका मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके

समान पापकृत्य होना प्रतिपादित किया है. इसी तरह कांकरोलीयुवाचार्यके वचनोंसे भी इस प्रतिपादनकी प्रामाणिकताको संवादित किया जा सकता है.

[३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर अस्वीय और/अथवा अभक्त जनोंकेलिये अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन ही सिद्धान्ताभिमत प्रक्रिया नहीं और ऐसा करनेपर सेवाकर्ताका हृदय भगवद्भावशून्य बन जाता है; और वार्षिक सेवा भी निष्फल हो जाती मानी गयी है. अतः हवेलीकी पेढ़ियोंपर भगवत्सेवाके नामपर मांगे या लिये जाते परद्रव्यसे धरी सामग्रीका नैष्फल्य भी सिद्ध हो जाता है. अतः वह प्रसाद ही न रह जाता हो तो भगवन्मनोरथोंद्वारा जनताको द्रव्यप्रदानार्थ ललचानेको किये जाते प्रदर्शनकी अपसिद्धान्तरूपता स्पष्ट होगी ही. 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.कांकरोलीवाले महाराजश्रीके वचन, स्वयं गोस्वामिद्विविदको 'पुसिसंशि' पदवीदानप्रपाठक सूरतवाले महाराजश्री तथा कांदीवली-ुंबईके चि.बावा के वचनोंसे भी इसे संवादित करनेपर निज भगवत्सेवाका प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतः सेवाप्रदर्शनके अन्तर्गत या सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनवश लिया परद्रव्य निज भगवत्सेवामें ग्राह्य कैसे हो सकता है ?

[४]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गमें की जाती भगवत्सेवाका प्रयोजन केवल स्वसेव्य प्रभुको अपना पारलौकिकैहिक सर्वस्व मान कर सेवा करना है, ऐसा माना गया है. अतः लोकार्थ=लौकिकफलार्थ, निजपरिवारके परिपालनार्थ, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि के प्रयोजनवश की जाती भगवत्सेवाको अनुमोदनीय नहीं माना जा सकता. ऐसी स्थितिमें न तो उत्तम, न मध्यम अथवा न आदिम कोटिका भी अधिकारी अर्थार्थितया सेवा कर सकता है. इसे 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.श्रीनृसिंहलालजीके, नि.ली.बालकृष्णलालजी (सूरत), 'सेवादेवद्रव्यविमर्श'कार, अमरीकाके ह्युस्टन न्यूजर्सी आदि नगरोंमें श्रीगोवर्धननाथजीमन्दिरसंस्थापक भाई-बहनोंके भी वक्तव्य, यों कितने सारे वचनोंसे संवादित कर जांचा जा सकता है.

[५]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवास्थलके स्वरूपका विचार करनेपर भी मूलाचार्यके उपदेशमें भगवत्सेवा

सेवाकर्ताके स्वयंके घरमें ही अनुष्ठेय मानी गयी है. न केवल इतना प्रत्युत भगवद्भजनतया अनुष्ठेय कर्म निजगृहमें रहे बिना शक्य न होना स्वीकारा गया है. स्वयं अपने घरमें बिराजमान सेव्यस्वरूपके भजनका परित्याग कर अन्यत्र (अथवा परित्यागार्थ ललचानेवाली भगवत्सेवाकी रीति) भक्तिकी सिद्धि अशक्य दिखलायी गयी है. इसी तरह स्वगृहमें अनुष्ठेय भगवत्सेवा भी यथालब्ध द्रव्य-सामग्रीसे सम्पाद्य मानी गयी है. अतः अस्वीय परिवारेतरजनोंसे प्राप्त करनेको उन्हें अपने घरमें तनुजा या वित्तजा के विभक्तानुष्ठानार्थ बरगलानेका सार्वजनिक प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतएव अर्थार्थिओंद्वारा किये जाते भगवत्सेवाप्रदर्शनमें वैष्णवसमुदाय जो कुछ वित्तजा या तनुजा सेवा करता है वह निषिद्ध स्थलपर प्रकट हुयी स्वधर्मभ्रान्ति है. अतः या तो अकर्म या विकर्म ही सिद्ध होती है. इसे भी 'अमृतवचनावली'में

नि.ली.अमरेलीवाले महाराजश्री, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी महाराजश्री एवं उनके आत्मज, नि.ली.श्रीबालकृष्णलालजी (सूरत), उनके अनुज, वर्तमान तृतीयगृहाधीश के वचनोंसे संवादित किया जा सकता है. अतः निजगृहके अतिरिक्त स्थलोंमें अनुष्ठित होती सेवा सिद्धान्तानुमोदित न होनेसे 'मूलं नास्ति कुतः शाखा!'' न्यायसे पुनः उत्तम मध्यम या आदिम किसी भी सेवाकर्ताके लिये कर्तव्य नहीं हो सकती. अतः अपने घरमें की जाती तनुजा सेवाको स्वीय वित्तसे विभक्त कर परद्रव्यसे किया जाना कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? अतः वैसा करनेपर निन्दित या निषिद्ध कोटि का जघन्याधिकार अनुक्तसिद्ध हो जाता है, बिना शास्त्रार्थके. फिरभी किसीको शास्त्रार्थका कण्डूत्यतिरेक हो तो अपनी एकलव्योपम दुर्दम आकांक्षाको मेरी मूर्ति बना कर उसके सामने बैठ कर शास्त्रार्थकण्डूतिका उपशम करना चाहिये. उसे प्रकाशित किये जानेपर तो सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत करने मैं भी सर्वदा समुद्यत ही हुं.

[६] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेव्यप्रभुके विग्रहका स्वरूप विचारनेपर भी उसे रसात्मक या भावात्मक मानना हो तो गुप्त रखना चाहिये. अन्यथा रसाभास होनेका जो प्रतिपादन किया है उसके आधारपर भगवत्स्वरूप अप्रदर्शनार्ह सिद्ध होता है. ऐसे भगवत्प्रदर्शनद्वारा किये जाते

अर्थोपाजनकी उपायरूपा सेवाके रसाभास होनेका भी सबल प्रमाण है. अतः अपने भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करनेवाले सब अपनी जघन्याधिकारिताको ही उद्घाटित कर रहे हों तो, उनके पास दीक्षार्थ या सेवार्थ भगवद्विग्रहको पुष्ट करना अनिवार्य न रह जाता है. अतः सभी मार्गानुगामिओंके लिए अपने-अपने घरोंमें ही की जाती अप्रदर्शनात्मिका धर्मबुद्ध्या अनुष्ठेय भगवत्सेवा ही सिद्धान्ताभिमत प्रकार सिद्ध होता है. इसीका समर्थन प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीहरिरायजी के वचनोंमें मिल रहा है, यह देखा जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी पुनः श्रीवल्लभात्मज श्रीबालकृष्णजी, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, उनके आत्मज, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा पक्षग्रहणमें अंगीकृत धारणा, वर्तमान तृतीयगृहाधीश आदिके वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[७] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवार्थ कैसी आजीविका पुष्टिधर्मानुमोदित होती है, एतदर्थ पूर्वज गोस्वामिओंद्वारा भी भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा या भगवत्सेवार्थ परद्रव्यका अंगीकार करनेकी परम्परा प्रमाण न हो कर साक्षात् आचार्योपदिष्ट रीतिको ही प्रमाण माननेकी स्वयं आचार्याज्ञा उद्धृत है. देवार्थ उत्सृष्ट या प्रदत्त द्रव्यको अपने उपभोगमें लेनेवाले, अधिकार-अनधिकारके विवेक रखे बिना सारे गांवको अपनी भगवत्सेवाद्वारा लाभ पहुंचानेके बहाने बनानेवाले ग्रामयाजक तथा अर्थार्थी बन कर भगवत्सेवा करनेवालेको श्वान श्वपाकी प्रेतधूम चिता चिताप्रज्वालनार्थ काष्ठ मद्य मद्यपात्र चरबीलगी हुयी मानुषास्थि शव शवस्पर्शी एवं महापातकी आदिको समानकोटिका अपवित्र बतानेवाले श्रीपुरुषोत्तमवचनके आधारपर भी न तो एककर्तृका और अनेककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा सेवाको सिद्धान्ततया अनुमोदनीय माना जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी स्वयं महाप्रभु प्रभुचरण चतुर्थात्मज श्रीहरिरायजी, नि.ली.गो.ति.श्रीगोवर्धनलालजी, नि.ली.राजनगरस्थ श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तमगृहाधीश, नि.ली.बालकृष्णलालजी(सूरत) के वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[८] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक के स्वरूपकी जिज्ञासामें स्वयं आचार्यचरणद्वारा सेवाकर्ताके भार्या आदि परिवारजनोंका उल्लेख, उसका श्रीहरिरायजीद्वारा समर्थन भगवत्सेवार्थ

विभक्त तनुजा और वित्तजा की धारणाको चूर्ण-चूर्ण कर देता है. 'अमृतवचनावली'में भी नि.ली.श्रीवागधीशलालजी महाराज, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीदीक्षितजी महाराज, नि.ली.प्रथमेश, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, आदि अनेकोंके वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[९] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवाके उपदेशार्थ अधिकारीकी विवेचनामें सर्वप्रथम तो पूर्वोदाहृत आचार्यवचन ही, साथ ही साथ उसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीका वचन, श्रीहरिरायजीके चार वचन और अन्तमें श्रीपुरुषोत्तमजीके दो वचन उद्धृत किये गये हैं. इन सभी वचनोंके आधारपर अर्थार्थितया भगवत्सेवा उत्तम मध्यम या आदिम किसी कोटिके सेवोपदेष्टाके लिये अनुमोदनीय हो नहीं सकती. अतः निन्दित या निषिद्ध कोटिके सेवोपदेष्टा ऐसे आचरण करनेवालोंको मानना पड़ेगा. 'अमृतवचनावली'में संकलित वक्तव्योंके आधारपर भी स्वयं आचार्यचरण, प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीमद्दुजी महाराज, नि.ली.श्रीनृसिंहलालजी, अमरेलीवाले नि.ली.वागधीशलालजी, राजनगरके नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, नि.ली.श्रीदीक्षितजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा गृहीत पक्ष, चि.पू.पा.द्रुमिलबावा के वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[१०] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर श्रीमद्भागवतको आचार्यचरण भगवन्नामात्मक मानते होनेके कारण उसके आजीविकार्थ या भक्तिभावके दृढ़ीकरणके अलावा अन्य किसी भी प्रयोजनवश किये जाते उपदेशको न केवल निषिद्ध कोटिका जघन्याधिकार प्रत्युत गटरके पानी जितना अपवित्र मान रहे हैं. अतः यदि भगवन्नामात्मक होनेके कारण सूतवृत्तितया अनुज्ञप्त भी भागवतकथाका भक्तिमार्गमें अर्थार्थ या आजीवनार्थ उपयोग वर्जित है. अब वह जिस भगवद्रूपका नामात्मक स्वरूप है, उसके साक्षात् स्वरूपका अर्थार्थितया भजन कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? क्योंकि 'पुसिसंशि'पदवीप्राप्तिके अभिनन्दनार्थ आयोजित सन्मानसभामें भागवतकथावाचकके हाथों सन्मानपत्र ग्रहण किया था अतः ''तवार्धं च ममार्धं च'' कुनीतिके वश भागवतवृत्त्युपजीवनकी भी शास्त्रदृष्ट्या वैधता अब ठहरायी जा रही है. जबकि **''श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यत् तत् 'धन'संज्ञितं, कृष्णार्थीति**

धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः, यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते. उभयोः वैपरीत्येतु रसाभासे फलच्युतिः किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिः विलम्बेनापि जायते... परन्तु शोभते न अत्र सकामत्वं विडम्बनं, कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम्'' (स्कन्दपुरा.वैष्ण.खं.अध्या.४) ऐसा न केवल महाप्रभुको अभिप्रेत है परन्तु शास्त्रको भी अभिप्रेत है. पुनश्च भगवत्सेवामें जो स्वयं कृष्णार्थितापर भार देनेपर इतना उद्विग्न हो जाता हो उसे धनार्थिताके आसुरावेशवश यह पसन्द न आये तो ''कृतभागवतकथोपदेशश्रवणवैयर्थ्यासम्भाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति'' न्यायेन इस जन्ममें तो श्रीकृष्णप्रेम सिद्ध हो जानेमें महती विपदा लगनी स्वाभाविक ही है. इस जन्ममें तो ''(श्री + कृष्ण = श्रीकृष्ण - कृष्ण)=द्रव्यं शरणं मम'' और ''धन तवास्मि'' के अलावा न कोई परतर मन्त्र सुहाता है. न कोई स्तव पाठार्थ सुहाता है. नहीं किसी परतरा विद्यामें रुचि या उसका बोध ही अच्छा लग सकता है. और न कोई परतर तीर्थ यात्रार्थ सुहा सकता है. सो आसुरस्वभावप्राप्त ऐसा विधानविडम्बन क्रिया है कि **''हमने जब देखा तो कहा... कि सूतवृत्ति शास्त्रविरुद्ध नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है...''** ('गदापदातत'पृ.४).

मैंने जिस शास्त्रीकी डायरीमें शास्त्रविरुद्ध होनेका लेख सहस्ताक्षर लिखा था वह शास्त्री वर्णसंकर सूतजातीय नहीं था. गोस्वामिद्विविद अपनेको वैसा मानते हों तो उनकी डायरीमें ऐसा अभिलेख लिखनेका साहस तो मैं भी कभी नहीं करना चाहुंगा. ऐसे देवलक भगवत्सेवा यदि वृत्त्यर्थ करते हों तो भगवन्नामात्मक भागवती कथा भी वृत्त्यर्थ करें इसमें विस्मयकी क्या बात हो सकती है! विस्मय तो केवल इस नूतन अंगीकृत **''...श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है''** विधानके बारेमें होता है. 'अमृतवचनावली' मूलतः भगवत्सेवाके सिद्धान्तशुद्ध प्रकारके सिद्धान्तवचनावलीमें उदाहृत वचनोंके परम्परागत अभिप्रायकी एक्यवाक्यता दरसाने ही संकलित की गयी थी. अतः उसमें ऐसे वचनोंके संकलन अप्रासंगिक थे. फिरभी नि.ली.श्रीगोविन्दरायजीकी सुधाधाराके वचनसे इस अभिप्रायको संवादित किया जा सकता है.

[११] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहणके बारेमें जो प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी और श्रीपुरुषोत्तमजी

के दान और समर्पण का पृथक्करण करनेवाले वचन दिये गये हैं. प्रभुको दानरूपेण स्वदत्त या परप्रदत्त का उपभोग वर्जित माना गया है और समर्पित-विनियुक्तका नहीं. अब जो भगवत्सेवाके व्यापारके रूपमें हवेली चल रही हैं, उनमें दर्शनार्थिओं द्वारा धरी जाती भेंट-सामग्रीको दानरूपेण मान्य करें तो ऐसे भगवत्प्रसादको सोनाकी कटोरीको गिरवी रख कर धरे प्रसादकी तरह अनुपभोग्य मानना पड़ेगा. और दर्शनार्थी जनताका समर्पण मानें तो इन सेव्यस्वरूपोंपर दर्शनार्थी जनताका स्वत्व गोस्वामिद्विविदोंको स्वीकारना पडेगा. अतः उन्हें वहां केवल तीसप्रतिशत वेतनभोगी कर्मचारी माने सिवाय कोई गति रह नहीं जायेगी. यदि उन्हें देवलक बननेमें लज्जा होती हो तो. अन्यथा स्वसेव्य भगवद्विग्रहकी सेवाके हेतु परद्रव्यार्थीका देवलक होना निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है. यह दुर्गति तो गोस्वामिद्विविदकी पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें कितनी बुरी तरह फंस जानेके कारण हुयी, वह तो विस्तृतविवरणके पठन-ननद्वारा अवलोकनीय है. किसी भी सूरतमें 'अमृतवचनावली'में संकलित पूर्वोदाहृत अनेक वक्तव्योंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[१२] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर तीर्थपर्यटन सम्बन्धी नियमोंपर भी यही कथा लागू होती है. तीर्थवासी ब्राह्मणको अपने पौरोहित्यके निमित्तवशात् तीर्थदक्षिणा या प्रतिग्रह शास्त्रानुमत होनेपर भी अतीर्थवासीको तीर्थयात्राके समय तीर्थहेतुक परद्रव्यकी कथा तो दूर ब्राह्मण्यहेतुक प्रतिग्रहको भी शास्त्रमें मातृगमनके समान पातक कर्म माना गया है. **''न तीर्थे प्रतिगृहीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि अपि कामातुरो जन्तुः एकां रक्षति मातरम्''** (पद्मपुराण). अतः कैमुतिकन्यायेन भगवच्चरणारविन्दोंके बारेमें जिनके हृदयमें **''अंघ्रिम् अघौघमर्षतीर्थास्पदं हृदि कृतम्''** (भाग.पुरा.१०।८१।२६) इस वचनके अनुसार तीर्थोंमें भी परतम तीर्थ होनेका भाव दृढ़ हो तो वह अपने सेव्यस्वरूपकी चरणभेंट अपने उपयोगमें लाकर स्वमातृगमन तो कर ही नहीं सकता! एतदर्थ संकलित है. इस बारेमें कैमुतिकन्यायके अभिप्रायवश यह वचन संकलित किया गया होनेसे 'अमृतवचनावली'में इसका संवादी वचन संकलित नहीं किया गया है.

[१३] शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार रूपी विषयके बारेमें स्वयं गोस्वामिद्विविदने निर्विवाद पक्षग्रहण करनेपर, किस तरहकी अधोगामिता स्वयंकी उघाड़ी पड़ जायेगी, उसका आगे-पीछेका आकलन ही नहीं किया! इसमें मेरा क्या दोष हो सकता है. स्वभावतः उस आचार्यवचनाशयनिर्धारणके प्रकारसे अपने-आपको निर्मुक्त कर वाद करना हो तो मेरी मूर्तिको बिठा कर सुखेन करे!

मैंने तो सिद्धान्तचर्चासभामें ही सारी बातें स्पष्ट हो जानेसे गोस्वामिद्विविदको अभिनन्दित ही किया था कि मात्र पांच सौ वर्ष टिकनेकी भीतिवाले सम्प्रदायको स्वयं गोस्वामिद्विविदने ही पांच हज़ार वर्षोंमें भी खतम न हो पानेकी आयुष्य प्रदान कर दी!

उपसंहारवचन :

क्योंकि मेरा सुदृढ़तम अभिप्राय यही है कि वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण इस १३वें शीर्षकके अन्तर्गत उपदिष्ट रीतिसे ही हो सकता है. सरकारी कानूनके सामने उभरती हमारी लाचारी, हमारी क्षुद्र द्रव्यलोलुपता अथवा तटस्थ मध्यस्थ विद्वानोंके बीच वादचर्चाका महामोह अथवा ऐसी किन्हीं विवशताओंके कारण नहीं. अतः हमारे पूर्वजोंने भी जो सिद्धान्तविहीन परम्परा कथञ्चित् विवश हो कर प्रवर्तित की, उनके आधारपर भी वाल्लभ सिद्धान्तोंका विनिर्णय कदापि नहीं हो सकता.

अतः अबभी इन सारे विषयोंकी एकवाक्यता साधते हुवे कोई अपना पक्ष, मेरेद्वारा गृहीत पक्षसे अन्यथा भी, प्रतिपादित करता हो तो उसे तो मैं आदरभावसे सुनने और समझने और मेरी त्रुटि हो तो उसे सुधारने भी प्रतिश्रुत हुं और पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणों की कृपासे रहुंगा ही. अन्यथा -

निरीहानां नृणां निजपथजुषां त्राणकरणं
महामोहान्मा भूदपि कपिमतेः प्राणहरणम्।
कथायां सिद्धान्तप्रकथनपरस्यात्र ममतु

यथायक्षो देयः खलु बलिरिति प्राप्तपरिधेः ।।
सहस्रपरिवत्सरामितयुगे व्यतीते परं
प्रभुर्मदनमोहनः कपिमतिं कदाचिद् हरेत् ।
तदा मतिमलापहृद् भजनजातसद्भक्तये
समर्पितमिदं भवेद् द्विविदबन्धवे कामये ! ।।
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत कष्टेभ्यो मुक्तो भक्तिम् अवाप्नुयाद् ।।
भक्त्या निखिलजीवानाम् अन्तरात्मा हरिः स्वयम् ।
पुष्टिजीवगृहे कच्चित् पुष्टिभक्तिं प्रसारयेत् ! ।।

।।अमृतवचनावली।।

(१/क) ''पाछे श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोर्वधनधरसों पूछें जो ''महाराज कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बीगार करें? तासों आपु कहो ताको अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ''हमहु कौंन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो तासों तुम एक काम करों जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाको गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो.''

(श्रीगोवर्धननाथजी, ८४वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

(ख) सो एक दिन एक वैष्णवने किसोरीबाईकों कछू सामग्री दीनी हती. तब किसोरीबाईने सिद्ध करिके श्रीठाकुरजीकों भोग समर्प्यो. ता दिन श्रीठाकुरजी आरोगवेकों पधारे नाहीं. तब किसोरीबाई मनमें बहोत खेद करन लागी. तब श्रीठाकोरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?

भावप्रकाश : यामें यह जताये जो औरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकोरजीकों आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें ले के श्रीठाकुरजीकों विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें.

(२५२ वै.वार्ता, किसोरीबाई वा.प्र.२)

(२) जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो याकेलिए गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे.

(**महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य**.घरुवार्ता-३)

(३) ...श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आई कही, ''महाराज श्रीद्वारकानाथजी वैभव सहित पधारे हैं.'' ता समें श्रीगोपीनाथजी ठाड़े हते (तब) श्रीगोपीनाथजी कहें

''लक्ष्मी सहित नारायण पधारे हैं'' तब श्रीआचार्यजी कहे तब श्रीआचार्यजी कहें ''वैभव ठाकुरको देखि के तिहारो मन प्रसन्न भयो है? (तब) श्रीगोपीनाथजी कहे, तिहारो कहाइके श्रीठाकुरजी की वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निरमूल नाश जायगो''. तब श्रीआचार्यजी कहें ''हमारो मारग तो ऐसोई है.''

(**श्रीगोपीनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास संभलवारेकी वार्ता).

(४/क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये अपनी आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह 'लौकिक कर्म ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण**. भक्तिहंस)

(४/ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : ''जो हम कौनसे जीवको कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देय? कौनको बिगार करें?...पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ''महाराज कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाको अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता प्रसंग-१०)

(५) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी और उत्सवादि समयानुसार अपने वित्त अनुसार करने वस्त्रभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(**श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण** २४ वचनामृत)

(६) यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़के दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्में, जैसे आजकल, भेट-सामग्री पधराके नित्य या मनोरथनकी झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो है वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(**श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी,** भक्तिवर्धिनीव्याख्या-२)

(७) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोडी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो ''तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो'' या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई-आपुनी सेवा न भई-राजभोगको नागा माने, धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये-दुःखक्लेश न पाये.

(**श्रीहरिराय महाप्रभु,** भावप्रकाश ८४वैष्णवनकी वार्ता-७६)

(८) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवान्में कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितन्कुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमानन्कुं ही मिले है वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाय हे शंका:यजमान जैसे

दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह:अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है? समाधान:या शंकाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो विहित होवेसुं पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही भगवत्सेवा करनी चहिये.

(गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण, सिद्धान्तमुक्तावली विवृतिप्रकाश-२)

(९) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पांखड़ी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं ''मेरो लौकिक सिद्ध होय'' ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है.

(**नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज,** सिद्धान्तमुक्तावली-टीका श्लोक १६-१७)

(१०) जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो.

(**नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज,** ३२ वचनामृत वचनामृत-५)

(११) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध

न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो जेसी कि परम्परा आज भी हे ही ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज, श्रीनाथद्वारा, डेक्लेरेशन मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी वि.सं.१९४८=ता.५-९-१८९३)

(१२)...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनीया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है...हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरे हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं घरें हैं फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(**नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज,** राजनगर, वचनामृत.४८४-८७).

(१३) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(**नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज, अमरेली,** श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार:''अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक'' मुद्दपर सन्१९०९-१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

(१४) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यर्थाथ उपदेश लोगन्कुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने बहोत हद तक छोड़ दिये हें; या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

(पञ्चमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी, कामवन मुंबईके वैष्णवन्कुं लिखित पत्र:'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

(१५) वकील:यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये; भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो ''मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे '' ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री:पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज सुरत** ''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(१६) हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें ही महाप्रसाद लिया जाय....जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो...आज हम हीरे(घरमें बिराजते सेव्य प्रभु)को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मानकर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम्''. भगवान्को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये.

दिव्यता ही आत्मबल है....अतः मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये.

(द्वितीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा, श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ.१२४)

(१७/क) और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायन्कुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तन्को जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(१७/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरन्में मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(**नि.ली.**गो.श्रीदीक्षितजी महाराज, मुंबई-किशनगढ़ (१७/क)''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'' लेख.पृष्ठ.७, १७/ख.लेख 'श्रीवल्लभविज्ञान अंक ५-६ वर्ष १९६५में प्रकाशित वक्तव्य)

(१८/क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको

ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(१८/ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे...हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(१८/ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया....श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके, सेवक हम देख सकते हैं कि सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे आजके समयमें मुझे प्रतीत होता है कि हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है....मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(**तृतीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज, कांकरोली**
(क) श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. (ख) बयान:मूर्तिबा कार्या.सहा.कमि. देवस्थानविभाग. खंड.उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल

संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५. (ग) श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत २०मुं पृष्ठ.१४६,१४९).

(१९) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे मन्दिरन्में मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ है. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ''करत कृपा निज दैवी जीवनपर'' या उक्तिमें 'निज शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि'को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं...आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं है क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकठ्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है.
(**नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज,** मुंबई-मद्रास 'वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष.१९६५)

(२०/क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय(दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(२०/ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है. परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है अतएव बजारके भावन्की घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है...कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी

देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें:एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं : अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं कैसे व्यापार बढ़े...अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

(**नि.ली.गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर :** (२०/क) 'सुधाधारा पृ.११४. (२०/ख) 'सुधाबिन्दु पृ.७३)

(२१) ''अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी महेनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तनकूं कोर्टमें समझाये''-''हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें''.

(**नि.ली.गो.-श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,जामनगर,** : गो.श्याम मनोहरजी(पार्ला-किशनगढ़ कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रनमें).

(२२/क) ट्रस्ट हवेली-मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मौत :

भगवान्-स्वधर्म पूंजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों-हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यांसोकी प्रणाली चल रही है वह पूजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा पहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके ''रहिये मेरे ही महल अनत न जैये...'' इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती है. यह प्रेमभरा अनुनय है और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्को पूंजी या सत्ता के जोर पर यह कहते हैं कि ''इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना, ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं, चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे'' लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु... इसमें भी प्राणोंकी उतनीही

असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं...वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है :

...अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता, इस विषयमें एक कहानी याद आती है...एक बार रुपये पैसेवाली बांझ औरत (आधुनीक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी)ने एक गरीब(गोस्वामी गुरु)का बच्चा(ठाकुरजी) खिलानेके लिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी(वैष्णव,आमजनता,सरकार) लोग उस गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश-हमेंश के लिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बन्धा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है.

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है :

रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी बिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलार किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो वह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने दे दिया.

मन्दिर-हवेलियां दुकान बन चुके हैं :

कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा धर्म और धर्मस्वरूप यह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंके लिये भोला बन गया था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया-यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमानको स्वार्थका साधन बना दिया और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये-पिलाये? वह तो सार्वजनिक था

मन्दिर–हवेलियोंके ठाकुरजी जड़ बन चुके हैं :

द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदूरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निक्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमके लिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेकेलिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, वारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं सकती और है तो बह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहे प्रयोगमें लायें, जैसा चाहे वैसा करे उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ ''महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह'' कहते हैं? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्के यहां कितनी आमद होती है

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना :

...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्को जगानेकेलिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पलसरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पड़ता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी–दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं.

...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पोलिसीके अंदर, और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है :

बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है...भगवान्की सुंदर विनिन्दितमुक्ता–दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें

हवेली–मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना :

धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है...आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चिज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता. श्रीनाथजीमें अब धनिकोंका साम्राज्य है.

...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढ़ाते हैं...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशान जैसें मन्दिर–हवेलियां :

भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोड़ोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी आदर्श गायब होता जा रहा है शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है :

...वल्लभमतमें ये सिद्धान्तत गलत है ओर ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन–मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते :

जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है और न उसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवान्ने धर्मकी व्यवस्थाकेलिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनीक हवेली–मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योंचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्यसम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं कि जाती तो देवद्रव्य होता है. जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठके :

बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोसे सारे घर–बारको ही सराबोर करने लगी है...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिन्ह प्रकट करनेको विवश होना पड रहा है

(''हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन'' दिनांक. २५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रूपये देकर. नहीं 'तनुवित्तजा'पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.५९)

(ग)...''सेवाऽपि कायिकी कार्या'' यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वैश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.७४)

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को सम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. (वहीं पृ.१७१)

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बठता है और धर्मभावना नष्ट होती है...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. (वहीं पृ.१८०)

(ङ) धर्म की परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्वल पक्ष है...कुनवारा और अन्य मनोरथों...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है. (वहीं पृ.१९७)

(नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्यजी प्रथमेश.)

(२३/क) प्रश्न:'देवद्रव्य कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'को मतलब देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है....मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं

और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(२३/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है यामें व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूप की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर ही कहे है...

(**नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय, सुरत,** (क)'वैष्णववाणी अंक.३, वर्ष मार्च १९८३.(ख)'गुजरात समाचार अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(२४) पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन-सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें अलौकिक (प्रभु) सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही सच्चे संस्कारका मूल है...श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय (उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी...आजकल...मंदिरोंका उपयोग यश-किर्ती प्राप्त करनेके लिये होने लगा है. मंदिरोमें प्राधान्य मनोरथीका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगा है. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये...दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है...इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसे ही दिये जायें ये ही है.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है...सम्पत्ति...प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूपसेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.

(जुलाई-२००७, पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये...सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढ़ोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है....अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. ''प्रीत हियेंमें राखिये प्रकट करे रस जाय'' की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति करातें हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.

(सप्टेंम्बर-२००४, पृ.७)

आजतो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो 'श्रीजी'का अर्थ ही अपनें माथे बिराजते ठाकुरजी होता है. जिसमें 'तिरु'का अर्थ श्री और 'पति'का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको आरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके दर्शन होनेके बदले अब तो अरे, वहां तक कि जीवमात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी करें एक ही बात है अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें (सप्टेम्बर-२००७, पृ.७)

(**पंचमगृहाधीश.नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज,** कामवन-विद्यानगर, वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक:पं.पी.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(२५/क) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरनमें दर्शनसूं क्या लाभ है?

श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' . यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(२५/ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है...अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवनकुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरन्में जाके...ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है.

(नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज दहिसर-मुबई, क-'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६५, ख-'नवप्रकाश अंक ८ वर्ष ८)

(२६) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनकोही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनो चहिये.

(**सप्तमगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी, कामवन** ''श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना ता.१-२-५६'')

(२७/क)...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्‌को भगवान्‌में विनियोग होवे है...मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं सेवा अपनकुं अपने घरन्‌में करनी है.

('वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(ख) आज बहुत घरोंमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है)का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेशमात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं, अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओंमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगें, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है.

(पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज, बडौदा-सुरत, पुष्टिबोध भाग.१-२,वि.सं.२०३४)

(२८/क) प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट-मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने तथा बिना समजे-सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो, इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थानन्‌कुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान...वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं पुष्टिमन्दिर नहीं पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है.

('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४,अंक.५, पुष्टिमार्ग-वर्तमान.प्रश्न-उत्तर.४,पृ.७)

(ख) आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर-घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्रणालिका अनुसार सेवा करते थे. (व्रज मोंहे बिसरत नांही, पृ.१४०-१४१)

(ग) खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते...वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है...अपना पेट पालनेकेलिये भगवद्‌गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है. पद्‌मनाभदासजी...आचार्यचरणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया...अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गढ्‌ढेमें इकठ्ठा हो जाता है...वो पानी तो केवल गंध ही मारता है...भगवद्‌भाव होते हुवे भी जिनके स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गढ्‌ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है...पांचवे (भगवद्‌गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते है. (जलभेद प्रवचन, वड़ोदरा)

(**तृतीयगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज,** कांकरोली-वड़ोदरा)

(२९) श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो.

(पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी,वडोदरा-कांकरोली
'वल्लभीयचेतना',
ऑक्टोबर१५ २००३,पृ.४)

(३०) जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं....सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है....इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ....श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है...नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास...इन महानुभावोंने...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं....ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि(धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल हैं

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है....इसी तरह जो अपने माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः ''घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो''.

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. ''व्याजं लौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलेशगृहे अगमत्''. अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके ठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे...तो क्या पति सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार...जो सेवा न करे, कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण) सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.

(पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,
२५२वैष्णव वार्ता, खंड-२की भूमिका पृ.१५-३६)

(३१/क) गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें....''तत्र अयम् अर्थः लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि'' स्पष्ट सुनें, ''सम्पादकत्वात्''...लाभ-

पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनावाला देवलक(पापी बन रहा है...

गो.श्रीहरिरायजी : और उपधर्मत्व होता है...और ये निषिद्ध है...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह...शास्त्रनिषिद्ध होनेसे...दान होनेसे देवद्रव्य होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है.

गो.श्रीहरिरायजी : हां बिलकुल...ये तो बिलकुल स्पष्ट है...'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है.

('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण पृष्ठ १६४,१९३)

(ख) श्रीमदाचार्यचरणने ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' यह कहा है. कारणके दो अलग अलग व्यक्ति तनुजा वित्तजा करते हैं तो मानसी सिद्ध नहीं होती...इसी अभिप्रायको समझानेकेलिये आचार्यचरणने 'तनुवित्तजा' यह समस्तपद कहा है...वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषों द्वारा की गई ऐसी तनुता-वित्तजा सेवाएं मानसीकी साधक नहीं होती यही अभिप्राय बतानेकेलिये तनुवित्तजा समस्तपद कहा गया है. अन्यथा तनुवित्तजा न कह कर तनुजा वित्तजा ही कहते...यदि दो अलग-अलग व्यक्ति तनुजा और वित्तजा करें तो दोनों सेवाओंकी एक संयुक्त अवस्था तनुवित्तजा नहीं बन पाती. अतएव मानसी सिद्ध नहीं होती.

(ग) जहां तक लाभपूजार्थत्वका सवाल है तो वह तो किसी भी कोटिका भक्त करेगा तो देवलक ही होगा...यदि कोई स्वलाभपूजार्थ दर्शन-मनोरथ-महाप्रसाद आदि करता है तो अवश्य देवलक है...अन्यके घरमें, अन्यके वित्तसे, अन्यके ठाकुरजीके भोगका महाप्रसाद लेना घोर सिद्धान्तविरुद्ध है.

(घ) अब रहा सबाल ट्रस्टकी इन्कम और प्रोफिट यानी आय और लाभ का, तो ट्रस्टके आय-लाभ हम नहीं लेते. उलटा भगवत्शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरण न्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ या गो-ब्राह्मणार्थ लगा देते हैं....हमारें प्रभुको नित्यनेगभोग हम स्ववित्तजासे अरोगाते हैं.

(ङ) पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये श्रीभागवतकथा करके वृत्ति करना निषिद्ध है.

(**पु.सि.सं.शि.पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज, जामनगर,**
अनिर्दिष्टपृष्ठसंख्याक 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा')

(३२) अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है...सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है...ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के ''गुर्जरे जीर्णतां गताः'' भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है...अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा...और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो...गुजरातमें.

(**पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी, सुरत** ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा दि.१०-१३जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

(३३) प्रश्न : अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर न कहके 'हवेली क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर : सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेककु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है. वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा

सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है...अतः इतर हवेलीन्की तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द रूढ़ हो गयो होवेसूं प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक-देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

(**पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज, सुरत** 'पुष्टिने शीतल छांयडे पृ.सं.१५७-१५८)

(३४) **श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु** यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती...प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये...कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है.

(**पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी,** वडोदरा 'वैष्णवपरिवार अंक.जून ९०)

(३५) तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी....कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं...जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि कोई वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी, मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे...तब आप कहेंगे ''मैने सेवा लिखायी है''. आप कहते हैं ''मैने सेवा लिखायी है'' तब अहन्ता कहां दूर हुई? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे? ''ये मेरी रसीद है मेरा प्रसाद लाओ''. तो देखीये अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी. संसारमें बांधेगी...केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है.

(पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज, कामवन–सुरत सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन भरूच जनवरी २००५)

(३६) पुष्टिमार्ग गुप्त है दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है...दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पावेकुं स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी,** अमरेली–कांदीवली 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२)

(३७) चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णत: भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है. तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये...तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता–अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता–मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक–दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है वासों तो (चित्तमें) राजसी वृत्ति होत है.

(**षष्ठगृहाधीश पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी वडोदरा** श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन पृ.१२५)

(३८/क) ''श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेकेलिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेकेलिये तैयार नही है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर

नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करनी अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका द्रोह होनेसे गुरु–अपराधसे ग्रसित बनाकर आरुढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा–कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य–दक्षिणा देकर अथवा लेकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति किसी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख) ''अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे'' व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह, कोई एकसो आठ कोई एक हजार आठ...अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो...भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा)की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम...अब गोलोक धाममें भेजना है मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है.

(पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी, जुनागढ, श्रीयमुनाष्टक प्रवचन राजकोट २००६)

संयुक्तघोषणापत्र : सुप्रिमकोर्ट

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है....अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें....सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

हस्ताक्षर कर्ता:

गो शरद अनिरुद्धजी (मांडवी-हालोल)

गो किशोरचन्द्र (मांडवी-जुनागढ)

गो अजयकुमार श्यामसुंदरजी (मद्रास)

गो मनमोहन (मुंबई)

गो श्यामसुन्दर मुरलीधरजी (बोरीवली)

गो हरिराय कृष्णजीवनजी (मुंबई)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

गो वल्लभलाल श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)

नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)

गो व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)

गो राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)

गो रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)

गो देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल-अमदावाद)

गो नवनीतलाल श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)

गो मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)

नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)

गो रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)

गो कल्याणराय (कन्हैयाबावा (वीरमगाम-अमदावाद)

गो योगेशकुमार (मुंबई)

गो व्रजप्रिय मुरलीधरजी (बोरीवली)

गो नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)

गो शरदकुमार (शीलूबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)

गो चन्द्रगोपाल (चंदुबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)

नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

पत्रद्वारा सम्मति:

नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)

नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)

पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)

नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी श्रीद्वारिकेशलालजी (मांडवी-हालोल)

गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)

गो.श्रीविट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ-जामनगर)

गो.श्रीहरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)

गो.श्रीव्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)

गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)

गो.श्रीबालकृष्णजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)

(''**महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र**'' १९८६ पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्त विवरण पृष्ठ.४९-७८, फोटोकोपी देखें : सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्तप्रकाशन, सन.२००८)

।।सिद्धान्तवचनावलीके अंश।।

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिलें तो...स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनो प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखीया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव=दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हो और भक्त हो ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध:अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल:एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:श्री ठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध:श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल:सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित:जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पानेके लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी?...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-समाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धतम नरकको पानेवाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश, हस्ताक्षरोकी फोटोकॉपी देखें:सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्त प्रकाशन, २००८)

सम्मतिमें हस्ताक्षर करनेवाले गोस्वामी महानुभाव :

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)

गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ़)

गो.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)

गो.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (इचलकरंजी)

गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)

पंचमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लविद्यानगर)

गो.श्रीगोपिकालंकारजी श्रीवल्लभलालजी (राजकोट-माणावदर)

चतुर्थपीठाधीश गो.श्री.देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल)

गो.श्रीद्रुमिलकुमार मथुरेश्वरजी (वडोदरा)

गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-सुरत)

गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-भावनगर)

गो.श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)

गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी (वेरावल)

गो.श्रीरधुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)

गो.श्रीरघुनाथजी रमेशकुमारजी (मुलुंड-नासिक)

गो.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (राजकोट-मांडवी)

गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (उपलेटा-पोरबन्दर)

गो.श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)

गो.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनजी (गोकुल-अहमदावाद)

गो.श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)

गो.श्रीविठ्ठलनाथजी लालमणीजी (कोटा-मुंबई)

गो.श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी (अहमदावाद)

गो.श्रीव्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अहमदावाद)

गो.श्रीव्रजेशकुमार चन्द्रगोपालजी (कडी-अहमदावाद)

गो.श्रीशरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)

गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद

आज फेरि वो समय आयो है वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतनकुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं. लोगनकूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं. दैवीजीवनके सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही

अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें...चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो...सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती...पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेन्ने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती...समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें

प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति ङ्गाल्गुन सुदि.७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२, देखें : पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्तविवरण १९९३)

हस्ताक्षर:

नि.ली.गो श्रीव्रजरायजी-श्रीनटवरगोपालजी महाराज (अहमदाबाद)

पू.पा.गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी महाराज (अहमदाबाद)

च.पी.पू.पा.गो.श्रीदेवकीनन्दनजी (गोकुल)

पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)

पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)

पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)

पू.पा.गो.श्रीजयदेवलालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)

पू.पा.गो.श्रीमथुरेशजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)

पू.पा.गो.श्रीकन्हैयालालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)

पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)